स्वतंत्रता का जन्म

[राष्ट्रीय आंदोलन का संक्षिप्त इतिहास]

लेखक

श्रीहृदयनाथ मोटा

['इंडिया स्पीक्स' और 'वरडिक्ट ऑफ् हिस्ट्री' पुस्तकों के प्रणेता]

भूमिका-लेखक

डॉक्टर सच्चिदानंद सिनहा

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार

३६, लाटूश रोड, लखनऊ

प्रथम संस्करण] सन् १९४६ ई० [मूल्य २॥)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

ग्रंथ प्राप्ति-स्थान

१. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना
२. दिल्ली-ग्रंथागार, चर्खेवालाँ, दिल्ली
३. प्रयाग-ग्रंथागार, ४०, कास्थवेट रोड, प्रयाग

नोट—इनके अलावा हमारी सब पुस्तकें हिंदुस्थान-भर के सब प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

राष्ट्र के पिता, देश-बंधु बापू, जिनकी अमर आत्मा स्वतंत्र भारत की भावी संतानों में राष्ट्र-सेवा की भावना सदैव जाग्रत् करती रहेगी, की पुण्य तथा अमर स्मृति में।

प्रस्तावना

श्रीहृदयनाथ मोटा से इस देश के पाठकगण पहले ही से परिचित हैं। इसके पहले भी वह दो पुस्तकें 'इंडिया स्पीक्स' और वरडिक्ट ऑफ़ हिस्ट्री' लिख चुके हैं। अब वह हमारे सामने अपनी श्रेष्ठतम कृति 'स्वतंत्रता का जन्म' लेकर उपस्थित हो रहे हैं। मोटाजी ने इस पुस्तक को एक आलोचक की दृष्टि से न लिखकर वर्तमान काल के एक ऐतिहासिक की दृष्टि से रचना करने की चेष्टा की है। इसी कारण उन्होंने विवादास्पद विषयों—विशेषकर भारत-विभाजन के संबंध में कांग्रेस-नेताओं द्वारा मुस्लिम लीग के प्रस्ताव की स्वीकृति के प्रश्न—पर, जो अब चाहे भले अथवा बुरे के लिये तय हो चुका है, अपने विचार प्रकट नहीं किए हैं। उनके विचार से, इस प्रकार का वाद-विवाद इस पुस्तक के क्षेत्र की बाहर की वस्तु है। उनके दृष्टिकोण से पुस्तक लिखने का उनका ध्येय इन विवादों में पड़ना अनुपयुक्त होता। जहाँ तक मेरा संबंध है, मैं नहीं चाहूँगा कि कोई भी इतिहास-लेखक उन महत्त्व-पूर्ण घटनाओं पर अपना मत प्रकट करने से अपने को रोके, जिनका असर देश की राजनीतिक स्थिति पर काफ़ी पड़ा है, और आगे भी पड़ सकता है। पर मैं यह मानता हूँ कि लेखक को इतिहास लिखते समय पूर्ण अधिकार है कि वह अपनी क़लम उन्हीं विषयों पर चलावे, जिन्हें वह उपयुक्त समझे। इन विचारों को प्रकट करने के बाद, मैं प्रत्येक व्यक्ति को परामर्श दूँगा कि वह आलोचित विषयों के संबंध में प्रकाश डालनेवाले ऐतिहासिक तथ्यों एवं घटनाओं के अत्यंत उपयोगी संकलन के रूप में लेखक की इस कृति को पढ़े। इसमें जो कुछ भी

प्रस्तावना

श्रीहृदयनाथ मोटा से इस देश के पाठकगण पहले ही से परिचित हैं। इसके पहले भी वह दो पुस्तकें 'इंडिया स्पीक्स' और वरडिक्ट ऑफ़् हिस्ट्री' लिख चुके हैं। अब वह हमारे सामने अपनी श्रेष्ठतम कृति 'स्वतंत्रता का जन्म' लेकर उपस्थित हो रहे हैं। मोटाजी ने इस पुस्तक को एक आलोचक की दृष्टि से न लिखकर वर्तमान काल के एक ऐतिहासिक की दृष्टि से रचना करने की चेष्टा की है। इसी कारण उन्होंने विवादास्पद विषयों—विशेषकर भारत-विभाजन के संबंध में कांग्रेस-नेताओं द्वारा मुस्लिम लीग के प्रस्ताव की स्वीकृति के प्रश्न—पर, जो अब चाहे भले अथवा बुरे के लिये तय हो चुका है, अपने विचार प्रकट नहीं किए हैं। उनके विचार से, इस प्रकार का वाद-विवाद इस पुस्तक के क्षेत्र की बाहर की वस्तु है। उनके दृष्टिकोण से पुस्तक लिखने का उनका ध्येय इन विवादों में पड़ना अनुपयुक्त होता। जहाँ तक मेरा संबंध है, मैं नहीं चाहूँगा कि कोई भी इतिहास-लेखक उन महत्त्व-पूर्ण घटनाओं पर अपना मत प्रकट करने से अपने को रोके, जिनका असर देश की राजनीतिक स्थिति पर काफ़ी पड़ा है, और आगे भी पड़ सकता है। पर मैं यह मानता हूँ कि लेखक को इतिहास लिखते समय पूर्ण अधिकार है कि वह अपनी क़लम उन्हीं विषयों पर चलावे, जिन्हें वह उपयुक्त समझे। इन विचारों को प्रकट करने के बाद, मैं प्रत्येक व्यक्ति को परामर्श दूँगा कि वह आलोचित विषयों के संबंध में प्रकाश डालनेवाले ऐतिहासिक तथ्यों एवं घटनाओं के अत्यंत उपयोगी संकलन के रूप में लेखक की इस कृति को पढ़े। इसमें जो कुछ भी

लिखा गया है, वह संक्षेप में होते हुए भी पूर्णतः व्यवस्थित है ; घटनाओं का विवरण और क्रम ठीक और पुस्तक उपयोगी है। भारतीय स्वतंत्रता-प्राप्ति के हेतु हुए संघर्ष के इतिहास में प्रस्तुत पुस्तक बहुत उपयोगी है।

—सच्चिदानंद सिनहा

दो शब्द

ब्रिटिश शासन-काल में भारत के सामाजिक, आर्थिक तथा राज-नीतिक जीवन से संबंध रखनेवाली जितनी भी पुस्तकें लिखी गई हैं, उनमें शायद ही कोई ऐसी पुस्तक हो, जिसमें विकृत, असत्य और भ्रमोत्पादक बातें न लिखी हों। इन पुस्तकों से न केवल विदेशियों में ही भारत के प्रति भ्रम-पूर्ण धारणाएँ फैलीं, बल्कि उनका प्रभाव भारतीय राजनीति तथा इतिहास के विद्यार्थियों पर भी पड़ा, जिसका परिणाम स्पष्ट है। अब, देश की स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात्, भारतीय इतिहास-लेखकों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे भारतीय इतिहास को पुनः ऐतिहासिक तथ्यानुसार लिखकर वास्तविक भारत का परि-चय कराएँ।

'स्वतंत्रता का जन्म' इसी प्रकार का प्रयास है। बहुत ही कम पृष्ठों में भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम का इतिहास लिखने का साहस किया गया है। वस्तुतः कोशिश यह की गई है कि भारत के परा-धीन होने से लेकर उसकी मुक्ति तक का इतिहास, संक्षेप में, जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया जाय। भारतीय संघर्ष के इतिहास के मुख्य-मुख्य तथ्य यहाँ दिए गए हैं, समय के क्रम से घटनाओं का संक्षेप में उल्लेख किया गया है। विवादास्पद विषयों को—जैसे भारत का विभाजन और राष्ट्रीय नेताओं द्वारा उसकी स्वीकृति—मैंने जान-बूझकर न आने देने का प्रयत्न किया है। ऐसे विषयों पर यदि मैंने अपने विचार प्रकट किए होते, तो कदाचित् यह पुस्तक किसी दूसरे ही रूप में होती। इस संबंध में डॉक्टर सच्चिदानंद सिनहा ने इस

पुस्तक की भूमिका में जो कुछ कहा है, उसे मैं बड़ी नम्रता के साथ स्वीकार करता हूँ।

भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास के अतिरिक्त इस पुस्तक में, संक्षेप में, भारत के राष्ट्रीय विधान, उसकी वैदेशिक नीति, नागरिकों के मूलभूत सिद्धांतों तथा नेहरू-सिद्धांत का भी उल्लेख कर दिया गया है। यह इस दृष्टिकोण से किया गया है, जिससे पाठक भारत का आगामी रूप समझ सकें, और यह समझ सकें कि भारत उन आदर्शों को अपना आधार बना रहा है, जो युग-युग से उसे गौरवान्वित कर रहे हैं।

डॉक्टर सच्चिदानंद सिनहा ने, अस्वस्थ तथा अत्यंत व्यस्त होते हुए भी, इस पुस्तक को पढ़ा, और इसकी भूमिका लिखने का कष्ट किया, इसके लिये मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। आदरणीय डॉक्टर नवयुवकों को प्रोत्साहित करने के लिये सदैव इतने अधिक प्रस्तुत रहते हैं कि वृद्धावस्था में भी वह कष्ट करने को तैयार रहते हैं। मैं अपनी पत्नी सुश्री सविता मोटा को धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ, क्योंकि उन्होंने इस पुस्तक के लिये ऐतिहासिक तथ्यों का संग्रह करने में मेरी बहुत सहायता की है।

अंत में मैं श्रीमोतीलालजी भार्गव मैनेजर गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस का, जिनके अथक परिश्रम और सहयोग से यह पुस्तक प्रकाशित हो सकी है, अत्यंत अनुगृहीत हूँ। इनकी सहायता और परामर्श से ही इस पुस्तक का प्रकाशन इतनी जल्दी हो सका है।

—हृदयनाथ मोटा

पहला अध्याय

स्वतंत्रता का जन्म

१५ अगस्त, सन् '४७—

स्वप्न जैसे सत्य हो गया हो, वैसा ही यह एक दृश्य था, जब १४-१५ अगस्त, सन् ४७ की मध्यरात्रि को भारत की विधान-परिषद् ने भारत के शासन की पूर्ण सत्ता ग्रहण की; कांग्रेस के उन नेताओं को, जो अब तक विद्रोही समझे जाते थे, और विदेशी सरकार की जेलें जिनका घर बन गई थीं, सम्मान और गौरव के साथ भारत का शासन-भार सँभालने के लिये बुलाया गया। वस्तुतः यह एक बहुत अधिक महत्त्व-पूर्ण अवसर था, न केवल भारतवर्ष के लिये, प्रत्युत समस्त एशिया तथा विश्व के लिये भी; क्योंकि उस ऐतिहासिक क्षण एक नए राष्ट्र—संसार के एक स्वतन्त्र और संसार में एक महत्तम राष्ट्र—का जन्म हुआ। जिस समय मध्यरात्रि में भारत परतंत्रता की निद्रा से जग रहा था, और पूर्व में एक नए नक्षत्र का उदय हो रहा था, उस समय समस्त संसार निद्रा-मग्न था; किंतु उसने इस घटना के महत्त्व को समझा। संसार के सभी स्वतंत्र राष्ट्रों की सरकारों तथा राष्ट्रपतियों ने और संपूर्ण विश्व के कोने-कोने से अनेकों जातियों के लोगों

ने स्वतंत्र भारत की सरकार के प्रमुख पंडित जवाहरलाल नेहरू के पास बधाइयाँ और शुभ कामनाएँ भेजीं।

स्वतंत्रता के इस प्रभात से भारत में एक नया और गौरव-पूर्ण युग प्रारंभ हुआ। लोगों के हृदयों में उल्लास और उत्साह की बाढ़-सी आ गई, और चारों ओर स्वतंत्रता का त्योहार मनाया जाने लगा। देश-भर में स्वतंत्रता के प्रदर्शन हुए, और जय हिंद के नारों से आकाश गूँज उठा। लोगों ने अपने घरों को सजाया, और दीपावली मनाई—ऐसी, जैसी भारतीय इतिहास में पहले कभी नहीं हुई थी। प्रत्येक व्यक्ति यही कह रहा था कि भारत आज़ाद हो गया—विदेशी बंधन से आज वह स्वतंत्र हो गया। आज भारत की जनता, दीर्घकालीन पराधीनता और लगातार संघर्ष के पश्चात् पुनः एक बार अपने पैरों पर खड़ी हो सकी है। वह आज जाग्रत् है, महान् है, स्वतंत्र है, गर्वित है, और आत्म-निर्भर है। सभी वर्गों ने—छोटे, बड़े-बूढ़े और जवानों, किसानों तथा मज़दूरों, सभी ने—एक साथ कंधे से कंधा मिलाकर, राष्ट्रीय तिरंगे झंडे को ऊँचा उठाकर जुलूसों में भाग लिया। यह वह तिरंगा झंडा था, जिसके नीचे जमा होकर राष्ट्र ने अनेकों गौरव-पूर्ण लड़ाइयाँ लड़ीं, विजय पाई, और अंत में इसी झंडे को हाथ में लेकर देश ने स्वतंत्रता प्राप्त की।

वास्तव में स्वतंत्रता का सबसे बड़ा महत्त्व-पूर्ण चिह्न यह

तिरंगा झंडा था, जो गौरव के साथ सभी जगह लहरा रहा था। यह राष्ट्रीय ध्वज उन सभी ऐतिहासिक स्थानों पर शान के साथ लहरा रहा था, जो पिछली दो शताब्दियों से विदेशी साम्राज्यवाद के चिह्न रहे हैं। यह राष्ट्रीय ध्वज बड़े उत्सव, उत्साह और उल्लास के साथ नई दिल्ली के सरकारी भवन पर, वाइसराय के निवास-स्थान पर, बादशाह शाहजहान के ऐतिहासिक लाल क़िले पर—जो आज़ाद हिंद फ़ौज के सैनिकों के मुक़द्दमे के बाद से और भी अधिक महत्त्व-पूर्ण हो गया है, झाँसी के क़िले पर—जहाँ वीर रानी लक्ष्मीबाई ने सन् १८५७ में विद्रोह के झंडे को ऊँचा किया था, अहमद-नगर-क़िले पर—जहाँ राष्ट्र के महान् नेतागण लगभग तीन वर्ष तक ब्रिटिश सरकार के बंदी रहे, और सभी अन्य महत्त्व-पूर्ण स्थानों तथा भवनों पर लहरा रहा था। प्रत्येक मकान और झोपड़ी, प्रत्येक इमारत और भवन, प्रत्येक गाड़ी और सवारी, प्रत्येक दूकान और सड़क सुंदर राष्ट्रीय ध्वज से सुसज्जित थी। और, राष्ट्र के प्रत्येक नर-नारी ने इस झंडे के सम्मुख उस दिन गौरव, आदर और श्रद्धा तथा प्यार से अपना मस्तक झुकाया। वस्तुत: यह ध्वज इस सम्मान का पात्र भी है।

निस्संदेह हम भारतीय स्वतंत्रता-प्राप्ति की प्रसन्नता से अत्यंत अधिक प्रभावित हुए, और हमने अपनी प्रसन्नता का प्रदर्शन एक शाहाना तरीक़े पर किया भी। किंतु उत्सव, उत्साह और उल्लास के इन प्रदर्शनों के सिवा भी हम भारतीयों के लिये १४-१५

अगस्त की मध्यरात्रि को होनेवाली इस घटना का एक विशेष महत्त्व है। इसका महत्त्व इतना अधिक है कि कदाचित हम उसे उस समय तक पूर्णतया न समझ सकेंगे, जब तक भारत की पिछली दो शताब्दियों का इतिहास हमारे सम्मुख न होगा—यह प्राचीन देश कैसे एक विदेशी आधिपत्य में आया, कैसे इसका शोषण हुआ, और अंत में किस प्रकार कांग्रेस ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी, और उसमें विजय प्राप्त की। इस वीरता-पूर्ण राष्ट्रीय आंदोलन का ऐतिहासिक ज्ञान स्वतंत्रता का महत्त्व जानने के लिये आवश्यक है।

भारतवर्ष कैसे एक विदेशी सत्ता का आर्थिक और राजनीतिक शोषण-क्षेत्र बन गया? कैसे विदेशी राज्य इस देश पर लाद दिया गया? कैसे और कब शोषित और पीड़ित भारतीय जनता की विस्मृत चेतना जाग्रत् हुई, और साम्राज्यवादी आधिपत्य से उसने मुक्त होने का प्रयत्न किया? कब और किसके नेतृत्व में भारतवर्ष की अपार जनता ने विद्रोह का झंडा ऊँचा किया, और किस प्रकार उसने स्वतंत्रता की यह लड़ाई लड़ी, तथा इसके लिये क्या-क्या कष्ट सहे? और अंततः भारतीय पराधीनता की इन हथकड़ियों को तोड़ने में किस प्रकार समर्थ हुई, और किस प्रकार एक पूर्ण स्वतंत्र राष्ट्र का उद्भव हुआ? आवश्यक है कि इन महत्त्व-पूर्ण प्रश्नों का वास्तविक और तथ्य-पूर्ण विश्लेषण किया जाय।

इस प्रकार का विश्लेषण किए जाने पर ही आज का नव-युवक सोद्देश्य और विस्तृत रूप से इसे समझ सकने में समर्थ हो सकेगा। तब, भविष्य की पीढ़ियाँ इस स्वतंत्रता के अपूर्व महत्त्व को जान सकेंगी, और बड़ी कठिनाइयों के पश्चात् प्राप्त की हुई इस स्वतंत्रता की रक्षा करना अपना पुनीत कर्तव्य समझेंगी, तथा इस बहुमूल्य राष्ट्रीय देन के लिये सर्वस्व त्याग करने के लिये तैयार हो सकेंगी।

दूसरा अध्याय

गत युग पर एक दृष्टि

भारत की पराधीनता

वास्तव में भारतवर्ष की पराधीनता का प्रारंभ उस समय से होता है, जब एक ब्रिटिश व्यापारिक कंपनी ने इस देश में अपने व्यापार का जाल फैलाना प्रारंभ किया।

ब्रिटिश व्यापारियों के पूर्व भी इस देश में डच, पुर्तगाली, फ्रांसीसी व्यापारी आ चुके थे, और कुछ हद तक वे अपने कार्य में सफल भी हो सके थे। भारत के कुछ हिस्सों में उन्होंने अपने क़दम पूर्णतया जमा लिए थे, किंतु उनकी स्थिति पूर्णतया निश्चित न हो पाई थी। उनके भाग्य में भारत का शासन नहीं था। किंतु वह क्षण, जब 'ब्रिटिश दूकानदार' ने इस देश में अपने क़दम रक्खे, वस्तुतः समस्त ब्रिटिश राष्ट्र के लिये अत्यधिक महत्त्व का क्षण था। यह उसी क्षण का प्रभाव था कि अब तक प्रत्येक पाँच ब्रिटिश मनुष्यों में से एक अपनी जीविका के लिये भारत पर निर्भर रहता था।

ब्रिटिश व्यापारी धोखेबाज़ी की कला में अत्यंत प्रवीण थे। किंतु इस देश में आकर उन्होंने अत्यधिक नम्रता और

शिष्टता प्रदर्शित की, और बार-बार यही इच्छा प्रकट की कि वे इस देश के साथ केवल विशुद्ध व्यापारिक संबंध स्थापित करना चाहते हैं, और कुछ भी नहीं चाहते। मदमत्त, किंतु अदूरदर्शी मुग़ल बादशाहों की समझ में यह न आया कि इस नम्रता और दैन्य के अभिनय के पीछे एक शैतानी राज-नीतिक शांति का षड्यंत्र छिपा हुआ है। परिणामतः उन्होंने इन व्यापारियों को न केवल स्वतंत्र व्यापार तथा देश के हर-एक भाग में स्वतंत्र-प्रवेश की अनुमति दे दी, अपितु उनकी कंपनी को इमारतें बनाने के लिये ऐसे स्थान दिए, जिनका कि कूटनीतिक महत्त्व था।

थोड़े ही समय के पश्चात् इन ब्रिटिश व्यापारियों ने अपना वास्तविक रूप प्रकट करना प्रारंभ कर दिया। शनैः-शनैः एक नियोजित रीति से उन्होंने अपनी पूर्व-निश्चित राजनीतिक नीति को कार्य-रूप में परिणत करना प्रारंभ किया, और उनकी व्यापारिक कंपनी ने, जिसका नाम था 'ईस्ट इंडिया कंपनी', इस देश के आंतरिक झगड़ों को प्रोत्साहित करने के गंदे कार्य को शुरू कर दिया।

भारतवर्ष के महत्त्व-पूर्ण स्थानों पर अपनी कंपनी की शाखाएँ पूर्ण रीति से जमा लेने के पश्चात् और देश के शासन-संचालन आदि में अपने दाँत काफ़ी अधिक जमा लेने के बाद उन्होंने अपना महत्त्व इतना अधिक बढ़ा लिया कि कंपनी का व्यापारिक कार्य तो पृष्ठ भूमि में पड़ गया, और

राजनीतिक रूप अधिक ऊपर उभर आया। भिन्न-भिन्न स्थानों में शांति और धोखेबाज़ी द्वारा तथा सम्मान के नाम पर बड़े-बड़े प्रदेशों को कंपनी लेती गई, और बाद में शासन-संचालिका के रूप में होकर इसने स्वयं एक शासक के अधिकारों और सुविधाओं को प्राप्त कर लिया।

ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपनी राजनीतिक सत्ता को और अधिक बढ़ाने तथा दृढ़ बनाने के हेतु 'विभाजन और शासन' की नीति अपनाई, जो ब्रिटिशों की परंपरागत नीति है। स्वयं भारतीयों में इसने जयचंद और भेदियों को उत्पन्न करना प्रारंभ कर दिया, और उन्हें अपना दलाल बनाया। देश के उन गद्दारों ने कंपनी और उसके डाइरेक्टरों को बहुत अधिक धन का लाभ करवाने के साथ-ही-साथ काफ़ी संपत्ति स्वयं जमा की। भविष्य में उनके कार्यों का क्या परिणाम होगा, इसका उन्होंने कुछ विचार न किया, और कंपनी के डाइरेक्टरों के इशारों पर हर प्रकार के अधम कार्य किए। इन अविचार-पूर्ण और अनैतिक कायरों ने पुरस्कार के लोभ में आकर, अपना महत्त्वाकांक्षा के भंफट में पड़कर, अपने को तथा अपने देश के हित को ईस्ट इंडिया कंपनी के मालिकों के हाथ बेच दिया। स्पष्टतः वे एक बहुत बड़े भीषण और अक्षम अपराध के दोषी थे। वह अपराध था भारत को पराधीन बनाना, जिसके लिये ईस्ट इंडिया कंपनी प्रयत्नशील थी, और कुछ समय के पश्चात् वह इसमें सफल भी हुई।

ईस्ट इंडिया कंपनी ने एक ओर तो जयचंदों और देश-द्रोहियों को सब तरह से प्रोत्साहन देने की नीति अपनाई, और दूसरी ओर भारतीय जनता के ऊपर भीषण अत्याचार करके उसका दमन किया। कंपनी के अत्याचारों की कहानी पूर्ण रूप से उस समय प्रकट हुई, जब १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, ब्रिटिश पार्लियामेंट में, एडमंड बर्क, शेरिडन और फाक्स ने उनका भंडाफोड़ किया। कंपनी के भीषण अत्याचारों को लोगों ने उस समय जाना, जब गवर्नर वारेन हेस्टिंग्ज़ का मुक़दमा अदालत में पेश हुआ। वारेन हेस्टिंग्ज़ वह गवर्नर था, जिसने भारत में अपने कार्य-काल में वह ज़ुल्म बरपा किया, जिसकी समानता कठिनता से मिलती है।

भारतीय स्वतंत्रता का प्रथम युद्ध

ब्रिटिश शासन के लगभग १०० वर्ष पश्चात् बंगाल, मदरास और बंबई इसके अंतर्गत आ गए थे, किंतु उत्तरी प्रांतों ने अभी इसका आधिपत्य ग्रहण न किया था। इन प्रांतों में विद्रोह की आग भड़क रही थी।

सन् १८३३ और १८५३ के बीच पंजाब और सिंध विजय कर लिया गया। तत्कालीन गवर्नर-जनरल लॉर्ड डल-हौज़ी ने एक नीति चलाई, जिसके अनुसार पुत्र-हीन राजाओं की मृत्यु के पश्चात् उनकी रियासत कंपनी के क़ब्ज़े में आ जाती थी। इस प्रकार कई रियासतों को मिलाकर तथा बुरे शासन-प्रबंध का अपराध लगाकर, अवध को भी मिलाकर

कंपनी का क्षेत्र बहुत बड़ा बन गया। यही क्षेत्र बाद में बढ़कर ब्रिटिश राज्य बन गया, जिसे १५ अगस्त, सन् १९४८ के पूर्व तक 'ब्रिटिश भारत' के नाम से पुकारा जाता था।

करोड़ों व्यक्तियों के ऊपर पूर्ण बाधा-हीन सत्ता प्राप्त हो जाने से ईस्ट इंडिया कंपनी के अफ़सरों के दिमाग़ बदल गए। किसी प्रकार की रोक-थाम तो उन्हें थी ही नहीं, अतएव उनका व्यवहार और बर्ताव अत्यधिक गुस्ताख़ हो गया। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि सभी लोगों में असंतोष की एक लहर-सी फैल गई। जनता, उच्च वर्ग, सामंत और सरदारों में इतना अधिक असंतोष बढ़ गया कि सभी के हृदयों में तीव्र ब्रिटिश-विरोधी भाव उत्पन्न हो गए। आर्थिक कठिनाइयाँ, जिनके कारण लोगों में ग़रीबी फैल गई, अपनी रियासतों, स्वतंत्रता और अधिकारों का अपहरण तथा जनता में इस भावना का प्रसार कि विदेशी राज्य और शासन के अंतर्गत रहना अपमान-जनक और गौरव-हीन है; इन कुछ कारणों से लोगों में ब्रिटिश राज्य के प्रति कटुता और भी अधिक बढ़ गई। जनता ब्रिटिश शासन की शत्रु बन गई। इसका स्वाभाविक परिणाम हुआ १८५७ का विद्रोह; जिसे ब्रिटिश शासकों और इतिहासकारों ने ग़दर के नाम से पुकारा, किंतु वस्तुतः एक विदेशी राज्य के ख़िलाफ़ यह भारतीय स्वतंत्रता के लिये प्रथम जन-संग्राम था।

दिल्ली के बादशाह बहादुरशाह को—जो नाम-मात्र का

बादशाह रह गया था, तथा पूना के पेशवा के वंशजों को केंद्र मानकर समस्त विद्रोही शक्तियाँ 'भारतीय राज्य' की स्थापना करने के हेतु एकत्र हुईं। इससे यह स्पष्ट है कि इस विद्रोह का कारण केवल वे अत्याचार और अपमान ही न थे, जो १७५७ के प्लासी के युद्ध के पश्चात् ब्रिटिशों द्वारा किए गए, प्रत्युत इसका कारण यह भी था कि भारतीय चाहते थे कि उनका शासन भारतीयों द्वारा ही हो, किसी विदेशी शक्ति द्वारा न हो।

इस विद्रोह में कुछ बहुत उच्च कोटि के वीर गुरिल्ला नेता पैदा हो गए, जिनमें दिल्ली के बहादुरशाह का एक संबंधी फिरोजशाह, बिठूर के नाना साहब, बिहार के कुँवरसिंह काफ़ी प्रसिद्ध हैं। किंतु इन सबमें उच्च और बहादुर तथा चतुर था तांत्या टोपे, जिसने ब्रिटिशों को कई महीने तक परेशान रक्खा—उस समय तक भी, जब कि लगभग उसकी पराजय हो चुकी थी। विद्रोह के महान् वीरों में एक नाम सबसे अधिक महत्त्व का है, और जो सदैव भारतीय इतिहास में अमर रहेगा, वह है झाँसी की रानी, महारानी लक्ष्मीबाई का—२० वर्ष की एक महिला, जिसने वीरता-पूर्वक अपने क़िले की रक्षा की, और अंतिम समय तक लड़ती रही तथा वीर-गति को प्राप्त हुई। जिस ब्रिटिश जनरल को उस वीर महिला का सामना करना पड़ा, उसने रानी लक्ष्मीबाई के बारे में लिखा है कि वह विद्रोहियों में सबसे अधिक 'बहादुर और योग्य' थी।

प्रारंभ में यह विद्रोह अत्यंत उग्र और भीषण था, और इसने एक बार ब्रिटिश राज्य की दीवारों को हिला दिया। किंतु अंत में इसे दबा दिया गया, अधिकांशतः भारतीय देश-द्रोहियों की सहायता से। विद्रोह का दमन करते समय ब्रिटिशों ने पाशविक व्यवहार किया। उनके कार्य शैतानियत और पशुता से पूर्ण थे। लोगों को नादिरशाह और तैमूर लंग के जमाने याद आ गए, किंतु ब्रिटिशों के जुल्म उनसे भी आगे बढ़ गए थे। ये जुल्म उनसे भी अधिक भीषण थे, और उनसे भी अधिक काल तक चलते रहे। व्यभिचार, हत्या, लूट, अग्निकांड, सभी मनमाने किए जा रहे थे। लूट की तो सरकारी तौर पर छूट थी, और साथ ही हत्याओं की भी।

इस प्रकार हिंसा, अत्याचार और आतंक द्वारा ब्रिटिश शासकों ने स्वतंत्रता के इस महान् आंदोलन को दबा दिया, और इसके परिणाम-स्वरूप भारत में ब्रिटिश राज्य पूर्ण रीति से स्थापित हो गया। ब्रिटिश राज्य की स्थापना से ईस्ट इंडिया कंपनी का जो मुख्य कार्य था, वह समाप्त हो गया, और इँगलैंड की महारानी विक्टोरिया की एक घोषणा द्वारा भारत का शासन सीधे ब्रिटिश बादशाह के हाथ में अथवा ब्रिटिश पार्लियामेंट के हाथ में चला गया।

ब्रिटिश पार्लियामेंट के हाथों में भारत का शासन चले जाने के पश्चात् भी इस देश का शासन-संचालन लगभग पूर्ववत्

ही, भारतीय विरोधी तरीक़े पर, होता रहा। यद्यपि २० वर्षों तक कोई युद्ध नहीं हुआ, और शासन-संचालन में कोई शांति-भंग का अवसर उपस्थित नहीं हुआ, किंतु ब्रिटिश शासकों के मस्तिष्कों में जो उच्चता की भावना व्याप्त थी, तथा जातीय द्वेष और विभेद का वे जो प्रदर्शन करते थे, उसके फल-स्वरूप उससे भारतीयों में ब्रिटिशों के प्रति घृणा और असंतोष का भाव उत्पन्न हो गया।

भारतवर्ष में ब्रिटिश राज्य की स्थापना इस देश के लिये एक विचित्र और नया-सा अनुभव था; यह एक ऐसी चीज़ थी, जो भारत को पहले कभी देखनी नहीं पड़ी थी। भारत-वर्ष पर पहले भी आक्रमण हुए थे, और लोगों ने इसे जीत-कर स्वाधिकृत किया था, किंतु वे लोग बाद में यहीं बस गए, और भारत के ही अंग बन गए। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार इँगलैंड में नारमैंस और चीन में मंचूस। स्पष्टतः भारत कभी इस प्रकार की राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था के अंतर्गत नहीं रहा था, जिसका केंद्र-बिंदु देश के बाहर हो; वह कभी इस प्रकार की शासक जाति के अंतर्गत नहीं रहा, जो पूर्णतः विदेशी हो—उद्भव और संघटन, दोनो ही दृष्टि से।

इसके पहले जो विदेशी शासक इस देश में आए, उन्होंने इस देश की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन की एकरूपता को स्वयं स्वीकार किया, और अपने को भारतीय परिस्थितियों और रीति-रिवाजों के साथ एक करने का प्रयत्न

किया। शासक जाति का भारतीयकरण हो जाता था, और उसकी जड़ें भारतीय भूमि पर जमती थीं। किंतु नए शासक बिलकुल ही भिन्न थे, उनका आधार किसी दूसरी जगह पर था। उनके और एक साधारण भारतीय के बीच में बहुत बड़ा और न मिट सकनेवाला भेद था—उनकी परंपरा, उनके दृष्टिकोण, उनकी आय और रहन-सहन की विधि में अंतर था। वास्तव में दो अलग संसार ही थे—एक था ब्रिटिश अधिकारियों का, और दूसरा था करोड़ों भारतीयों का, जिनके बीच कोई भी समानता न थी, सिवा इसके कि दोनों एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते थे। पहले जातियाँ एक दूसरे में घुल-मिल जाती थीं, अथवा एक दूसरे पर निर्भर होकर एक विशेष ढाँचे में जम जाती थीं। किंतु अब जाति-द्वेष एक मान्यता अथवा विश्वास के रूप में हो गया था, और इस तथ्य से वह और भी अधिक बढ़ गया था कि शासक जाति के हाथों में राजनीतिक तथा आर्थिक शक्तियाँ थीं, जिस पर किसी प्रकार की रोक-थाम न थी*।

लॉर्ड लिटन के शासन-काल में यह जाति-द्वेष अपने पूर्ण कुत्सित रूप में प्रकट हुआ। मैटकाफ के समय से भारतीय प्रेस (समाचार-पत्र आदि) ने अँगरेजी प्रेस ही की तरह पूर्ण स्वतंत्रता से कार्य किया था, किंतु उसमें तमाम गड़बड़

* नेहरू—'डिसकवरी ऑफ़ इंडिया' (भारत की खोज) पृष्ठ २५९-६० ।

करके, भारतीय प्रेस पर अनेकों रोक-थाम लगाकर उसे सीमाओं में बाँध दिया। बाद में उसने एक शस्त्र-क़ानून (आर्म्स ऐक्ट) बनाया, जिससे न केवल भारतीयों का शस्त्र रखने का अधिकार छिन गया, प्रत्युत इससे भारतीय और योरपियनों के बीच में एक और नया तथा बड़ा विभेद स्थापित हो गया।

इसके पश्चात् एक भयानक अकाल पड़ा, जिसमें लाखों भारतीयों की असमय और दुखः-जनक मृत्यु हुई। इस दुःख-जनक घटना का कारण मुख्यतः अन्न की कमी न थी, प्रत्युत इसका कारण था लोगों में क्रय-शक्ति का अभाव होना। ब्रिटिशों की लूट के इस प्रकार के परिणाम हुए, जिनके फल-स्वरूप भारत निर्धन हो गया, और भिखारी बन गया। अफ़ग़ान-युद्ध के अत्यधिक व्यय से देश के आर्थिक जीवन पर एक और बहुत बड़ा बोझ पड़ा। यह तथ्य कि ब्रिटिश सरकार भारत की दुःख-जनक घटनाओं और निर्धनता के प्रति पूर्णतः उदासीन थी, और वह केवल अपना गौरव और शान बढ़ाना चाहती थी, इसी से स्पष्ट है कि जब एक ओर तो देश में अकाल के फल-स्वरूप सैकड़ों मृत्यु हो रही थीं, इस समय ब्रिटिश सरकार ने दिल्ली में एक बड़ा शानदार दरबार किया, जिसमें इँगलैंड की रानी विक्टोरिया ने सम्राज्ञी की उपाधि ग्रहण की। वस्तुतः विदेशी सरकार का प्रत्येक कार्य शोषणकारी तथा भारतीय विरोधी था, और उसके इन

कार्यों ने लोगों को विचार करने पर विवश किया, और उनमें एक नई चेतना पैदा की। परिणाम-स्वरूप देश-भर में राजनीतिक और आर्थिक प्रतिरोधी शक्तियों का जन्म हुआ, और वे गतिशील होने लगीं। बहुत-से लोगों के शारीरिक और मानसिक कष्टों के परिणाम-स्वरूप तथा कुछ थोड़े-से लोगों की उदासीनता तथा स्वार्थपरता से लोगों में वह बेचैनी फैल रही थी, जो बहुत शीघ्र एक खतरे में बदल जानेवाली थी।

तीसरा अध्याय

कांग्रेस का जन्म

भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) का विकास एक बड़े विचित्र और मनोरंजक तरीक़े से हुआ है। इसके इतिहास के अध्ययन से हमें अनेकों नवीन तथ्य ज्ञात होते हैं। जिस प्रकार महती नदियों का प्रारंभ छोटे-छोटे नालों के रूप में हुआ करता है, उसी प्रकार इस महती संस्था का जन्म एक बहुत ही छोटे पैमाने पर हुआ। जिस प्रकार बड़ी-बड़ी सरिताएँ अपने उद्‌गम-स्थान से निकलने के पश्चात् बड़ी तीव्र गति से बहती हैं, फिर टेढ़े-मेढ़े, कँकरीले-पथरीले मार्ग को पार करके, झाड़ियों और पहाड़ियों से होती हुई, बड़े-बड़े विशाल मैदानों में पहुँच जाती हैं, जहाँ वे अधिक चौड़ी, और विस्तृत हो जाती हैं, और उनकी गति मंद, किंतु एक-सम हो जाती है। अपनी कई शाखाओं और सहायक नदियों द्वारा, जो प्रदेश के भिन्न-भिन्न भागों में फैली रहती हैं, वे भू-भाग को सींचती और देश को उपजाऊ बनाकर उसे संपत्ति-शाली बनाती हैं। ठीक इसी प्रकार राष्ट्रीय कांग्रेस को भी आरंभ में कई विघ्न-बाधाओं और रुकावटों को पार करना था, अतएव प्रारंभिक अवस्था में उसके आदर्श और उद्देश्य

अत्यंत ही नरम और साधारण थे। किंतु बाद में जब यह अपने महत्कार्य, त्याग, उत्साह और अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप जनता का स्नेह-पात्र बन गई, तब यह अपनी शक्ति और सामर्थ्य के प्रति अधिक जागरूक हो गई। और, इसने अपना कार्य-क्षेत्र अधिक विस्तृत कर दिया, भारतीय जनता की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और नैतिक समस्याओं के समाधान के लिये कई आंदोलनों को जन्म दिया, और उन्हें बढ़ाया। अपने को पूर्णतः संयत और गंभीर रखते हुए, प्रार्थना की भावना और समयोपयोगिता का आश्रय लेते हुए, इसने अपना विकास किया, और इसमें आत्मजागरूकता, आत्मनिर्भरता और आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। इसके पश्चात् कांग्रेस ने जनता को एक पूर्व नियोजित और विशाल पैमाने पर अपने संगठन के उद्देश्यों के बारे में शिक्षित करना तथा अपने उद्देश्यों का प्रचार करना प्रारंभ किया। इसका परिणाम यह हुआ कि संपूर्ण देश में संगठन बहुत व्यापक बन गया, और समस्त देश की क्रांतिकारी शक्तियाँ एकत्र होकर सीधी लड़ाई की तैयारियाँ करने लगीं। इस प्रकार जिस कांग्रेस का जन्म एक बहुत छोटे रूप में हुआ था, वह अब बढ़कर एक राष्ट्रीय संगठन, एक राष्ट्रीय संस्था बन गई। इसने गर्व-पूर्वक ब्रिटिश शासकों के सम्मुख अपनी माँगें रक्खीं, और उनके लिये इसने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अत्याचारों का साहस के साथ सामना किया। भार-

तीयों के जन्म-सिद्ध अधिकार स्वतंत्रता को पाने के लिये इसने कई वीरता-पूर्ण लड़ाइयाँ लड़ीं। और, तमाम कष्टों, अत्याचारों और दो शताब्दियों के सतत संग्राम के पश्चात् अंत में यह अपने उद्देश्य में सफल हुई, और भारत-माता विदेशी दासत्व के चंगुल से मुक्ति पा सकी।

कांग्रेस के जन्म का कारण केवल पराधीनता-जन्य राजनीतिक प्रेरणा ही न थी। यद्यपि इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि कांग्रेस के सामने एक निश्चित राजनीतिक उद्देश्य था, किंतु वह राष्ट्रीय पुनर्जागरण-आंदोलन की सबसे बड़ी सहायिका थी। कांग्रेस के जन्म के ५० वर्ष पूर्व ही राष्ट्रीय पुनर्जागरण के आंदोलन का प्रयत्न हो रहा था। वस्तुतः राजा राममोहन राय के समय में ही तथा उसके भी पूर्व भारत का राष्ट्रीय जीवन बेचैनी की स्थिति में तथा परिवर्तन की ओर उन्मुख था। इसी कारण राजा राममोहन राय को भारतीय राष्ट्रवाद का जनक कहा जा सकता है। "कांग्रेस के जन्म के पूर्व भारतीय राष्ट्रीय पुनर्जागरण की अंतिम अवस्था का प्रारंभ बंगाल में महान् देश-भक्त और दार्शनिक स्वामी रामकृष्ण परमहंस द्वारा हुआ था। स्वामी रामकृष्ण ने बाद में स्वामी विवेकानंद को अपना मुख्य शिष्य बनाया। इन्होंने (स्वामी विवेकानंद) अपने गुरु के संदेश को सभी स्थानों में—पूर्व से पश्चिम तक—फैलाया।"* रामकृष्ण-मिशन ने

* पट्टाभि सीतारमैया—'कांग्रेस का इतिहास'।

अपने को रहस्यवाद और यथार्थवाद तक में ही शामिल नहीं रक्खा, प्रत्युत इसने गंभीर मानवीय समस्याओं के समाधान को भी अपने उद्देश्य के रूप में अपनाया, और इस प्रकार सामाजिक सेवा के महान् कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा तथा उदासीनता नहीं दिखाई। इसने ऐसी कई राजनीतिक, सामाजिक समस्याओं के समाधान का मार्ग बताया, जिनको विश्व के राष्ट्र आज भी हल नहीं कर पा रहे हैं। ये सभी आंदोलन भारतीय राष्ट्रीयता-सूत्र के कई अलग-अलग धागे थे, जिनका कार्य था मिलकर एक ऐसे सुदृढ़ सूत्र को बनाना, जो घृणा और अंध-विश्वास को दूर कर सके, तथा प्राचीन विश्वास (धर्म) को शुद्ध और कार्यशील बनाकर उसे नए राष्ट्रवाद के अनुरूप बना सके। इस महत्कार्य के करने का भार राष्ट्रीय कांग्रेस पर आ पड़ा। यह काम था—इस राष्ट्र को एक नई शक्ति और नई प्रेरणा देकर, इसके प्राचीन गौरव को पुनर्जीवित करके एक नए राष्ट्र को जन्म देना, जो पूर्व के लिये एक गौरव की वस्तु और पश्चिम के लिये एक पथ-प्रदर्शक बन सके। अपने कार्य में यह कितनी सफल हुई, इसका अध्ययन करना अब हमारा कार्य है।

प्रथम अधिवेशन

कांग्रेस के जन्मदाता एक अँगरेज सज्जन थे, जिनका नाम था अलानआक्टेवियन ह्यूम। आप एक सुशिक्षित तथा प्रगतिशील विचारों के व्यक्ति थे। कांग्रेस के जन्म के बहुत

पूर्व से ही वह निर्धनता से सताए हुए दु:खी भारतीयों के प्रति सहानुभूतिशील थे। उन्होंने शासन-व्यवस्था की खामियों को दिखाया, और उसे सुधरवाने के लिये कई बार जोरदार प्रयत्न किए थे। ह्यूम महाशय सदैव भारतीयों के कष्टों के प्रति सतर्क रहते थे, और उनकी शिकायतों को दूर करवाने का प्रयत्न करते थे। इस देश की भलाई के लिये वह सदैव प्रयत्नशील रहते थे। उनके इन कार्यों से भारतीय जनता उन्हें बहुत चाहने लगी, और भारतीय जनता का प्रत्येक वर्ग और जाति उन्हें भारत का एक बहुत मित्र और हितेच्छु समझने लगी।

यह ह्यूम महाशय के ही महान् प्रयत्नों और अथक कार्यों का परिणाम था कि २२ दिसंबर, सन् १८८५ में राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन बंबई नगर में हुआ। श्रीयुत बनर्जी इसके प्रथम अध्यक्ष थे। वास्तव में यह एक अत्यधिक महत्त्व-पूर्ण और महान् क्षण था, जब भारत-माता के प्रतिष्ठित और सम्माननीय पुत्रों में से प्रथम ने इस राष्ट्रीय महासभा के अध्यक्ष-पद को सुशोभित किया।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि कांग्रेस का प्रारंभ एक बहुत छोटे, साधारण तरीक़े पर हुआ था, अतएव इसके प्रथम अध्यक्ष द्वारा निम्न-लिखित चार उद्देश्यों की स्थापना हुई, स्पष्टत: ये उद्देश्य अत्यंत ही उदारता-पूर्ण थे—

(१) साम्राज्य के विभिन्न भागों में देश-हित के लिये कार्य करनेवाले सच्चे कार्यकर्ताओं के बीच में घनिष्ठता और मैत्री को बढ़ाना।

(२) व्यक्तिगत और सीधी मैत्री द्वारा एक दूसरे से मिलकर सभी तरह की जातिगत, विश्वास-जन्य अथवा प्रांतीय विभेद-जन्य घृणा-भावों को दूर करने का प्रयत्न करना तथा राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास करके उसे अधिक सुदृढ़ बनाना।

(३) पूरी तरह वाद-विवाद करने के पश्चात् देश की कुछ महत्त्व-पूर्ण और प्रगतिशील सामाजिक समस्याओं पर देश के शिक्षित और विज्ञ व्यक्तियों का मत संग्रह करके एक अधिकारी-रेकर्ड बनाना।

(४) उन रीतियों और तरीक़ों का निश्चित करना, जिन पर चलकर देश के राजनीतिक नेतागण आगामी १२ महीनों में कार्य करेंगे।

राष्ट्रीय सरकार की माँग

अपने जन्म-काल में और उसके बहुत समय पश्चात् तक भी कांग्रेस एक बहुत ही उदार-पंथी संस्था बनी रही। कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति इस पर अनुदार होने का दोषारोपण नहीं कर सकता। सन् १९०५ तक कांग्रेस ने सिवा इसके अन्य कोई माँग नहीं की कि भारतीयों को देश के शासन-संचालन के कार्य में उचित हिस्सा दिया जाय। ये

माँगें चाहे जितनी भी तर्क-पूर्ण और उचित क्यों न रही हों, किंतु इनमें से शायद ही एकआध ब्रिटिश शासकों द्वारा मानी गई।

सन् १९०६ में कांग्रेस ने यह माँग की कि भारतवर्ष में भी उसी प्रकार की सरकार की स्थापना हो, जैसे स्व-शासित उपनिवेशों में होती है। निःसंदेह कांग्रेस की इस माँग को पूर्णतः उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया, और ब्रिटिश सरकार में इसकी प्रतिक्रिया अत्यंत उदासीनता-पूर्ण हुई। केवल १९०९ में मार्ले-मिंटो-सुधारों को भारत के समक्ष प्रस्तुत किया गया। किंतु इन सुधारों को जिस रूप में रक्खा गया, और ये जिस प्रकार के थे, उससे यह पूर्णतः स्पष्ट था कि इनके प्रस्तुत करने का उद्देश्य है भारत को आंतरिक झगड़ों और संघर्षों का एक क्षेत्र बना देना—ऐसे संघर्ष, जिनका अंत कभी न हो सके। और, इस प्रकार इस देश में ब्रिटिश राज्य सदैव के लिये क़ायम रखना। इन सुधारों द्वारा देश में प्रथम बार भिन्न मत-गणना का प्रवेश किया गया, जिनका आधार धार्मिक था, इन सुधारों से मुस्लिम जाति को सभी जगह बहुत अधिक और अनुचित प्रतिनिधित्व मिल गया। इसके सिवा इन सुधारों ने निर्वाचनों के संबंध में, उम्मीदवार की योग्यता आदि के संबंध में, मुसलमानों और ग़ैर-मुसलमानों के बीच में ऐसे विभेद पैदा कर दिए, जो अपमान-जनक, पूर्णतः अनुचित और परस्पर विरोधी थे। इसका परिणाम यह हुआ कि युग-

युग की भारतीय राष्ट्रीयता की एकता को एक गहरा धक्का लगा, और इस महान् राष्ट्र के भिन्न-भिन्न वर्गों और जातियों में परस्पर विरोध पैदा हो गया। स्पष्टतः भिन्न मत-गणना से वे वर्ग, जो पहले से ही निर्बल थे, और भी अधिक निर्बल हो गए। इन्होंने अनैक्य की भावना को प्रोत्साहित किया, और राष्ट्रीय एकता का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। इस प्रकार के निर्वाचन केवल लोकतंत्रवाद के सिद्धांत के खिलाफ ही न थे, प्रत्युत इन्होंने जो सबसे बुरा कार्य किया, वह यह कि इसके फल-स्वरूप एक नए प्रतिक्रियावादी वर्ग की उत्पत्ति हुई, जिसके कुछ अपने निहित स्वार्थ थे। इस प्रकार इन निर्वाचनों से लोगों का ध्यान आर्थिक समस्याओं की ओर से हट गया, वे समस्याएं, जो देश की वास्तविक समस्याएँ थीं, और जो सभी जातियों के लोगों के लिये समान रूप से महत्त्वपूर्ण थीं। इस सांप्रदायिक मत-गणना से भारतीय जीवन के प्रायः प्रत्येक अंग की क्षति हुई। इसी का यह परिणाम था कि बाद में मुसलिम राजनीतिज्ञों द्वारा भारत के विभाजन की माँग पेश की गई; पाकिस्तान के दानव की उत्पत्ति हुई।

१६१६ में कांग्रेस ने माँग की कि देश में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के हेतु निश्चित प्रयत्न किए जाने चाहिए, और "भारत को एक पराधीन राष्ट्र न रखकर उन राष्ट्रों की समानता देना चाहिए, जो स्वयं अपना शासन करते हैं, और इस

प्रकार भारत को दूसरे उपनिवेशों की भाँति साम्राज्य का एक समान सहयोग बना लिया जाय।"

सन् १९१८ में मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड-सुधारों का प्रवेश हुआ, जिनकी मुख्य विशेषता थी, प्रांतों में दोअमली हुकूमत का क़ायम होना। मांटेग्यू चेम्सफोर्ड-सुधारों में जो योजना रक्खी गई, उससे कांग्रेस के प्रस्तावों को पृष्ठ-भूमि में डाल दिया गया। निश्चित ही इनमें ऐसी कोई बात नहीं थी, जिनसे स्व-शासन की माँग किसी तरह आगे बढ़ती। कांग्रेस ने अपने दिल्ली-अधिवेशन में—जो पंडित मदनमोहन मालवीय की अध्यक्षता में हुआ था—यह माँग रक्खी कि प्रांतों में पूर्णतः उत्तरदायी सरकार की स्थापना की जाय, और केंद्र में दो-अमली हुकूमत स्थापित हो; वैदेशिक विभाग, सेना तथा नव-सेना को सुरक्षित विभागों में (रिज़र्व्ड सब्जेक्ट) रखना निश्चय कर लिया गया। इसी समय ११ नवंबर, १९१८ को संधि हो जाने से प्रथम महायुद्ध का अंत हो गया, और कांग्रेस ने प्रेसीडेंट विल्सन, लायड जॉर्ज और दूसरे ब्रिटिश तथा अमेरिकन राजनीतिज्ञों के वक्तव्यों का हवाला देते हुए यह माँग की कि भारतवर्ष को भी आत्मनिर्णय का अधिकार दिया जाय। क्योंकि उपर्युक्त राजनीतिज्ञों के कथनानुसार यह युद्ध आत्मनिर्णय के सिद्धांतों के लिये लड़ा गया था, और विजय पाई गई थी, और यह निर्णय विश्व के सभी प्रगति-शील देशों पर लागू होगा। अतएव कांग्रेस ने भारत के लिये

भी आत्मनिर्णय के अधिकार की माँग की, और सभी दमन-कारी क़ानूनों को उठा लेने पर ज़ोर दिया।

प्रथम महायुद्ध में भारतवर्ष ने ब्रिटेन की बिना शर्त सहायता की थी। यह सहायता कोई मामूली सहायता न थी। ब्रिटेन की विजय का एक बहुत बड़ा कारण भारत की सहायता थी। किंतु ब्रिटेन ने भारत के इन सब उपकारों को बड़ी बेशर्मी के साथ भुला दिया, और कांग्रेस की स्वतंत्रता की माँग के उत्तर में देश को जो प्राप्त हुआ, वह स्वतंत्रता न थी, वह थे—दमनकारी क़ानून, रौलट-बिल, दिल्ली और विरम गाँव का गोली-कांड, जलियाँवाला बाग़ का हत्याकांड और पंजाब का मार्शल लॉ (फ़ौजी क़ानून)। इन दुःखजनक और शोक-पूर्ण घटनाओं ने तथा ब्रिटिश नौकरशाही के कार्यों ने साम्राज्यवादी नीति को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया। ब्रिटिश शासकों का वास्तविक रूप खुल गया, और कांग्रेस को काफ़ी परेशानी का सामना करना पड़ा, किंतु साथ-ही-साथ कांग्रेस वस्तुस्थिति को समझ गई, और उसने अपने कार्य को अधिक प्रगतिशील बनाया, और वह एक अंतिम लड़ाई की तैयारियाँ करने लगी।

महात्मा गांधी का नेतृत्व

रौलट-बिल के अनुसार बिना किसी क़ानूनी कार्यवाही अथवा क़ानूनी रुकावट के गिरफ़्तारियाँ हो सकती थीं, और लोगों पर अभियोग लगाया जा सकता था। इस मशविरे का भारत के सभी राजनीतिज्ञों ने एक स्वर से ज़ोरदार विरोध

किया, और पूरे भारत में इसके प्रति घृणा और क्रोध के भाव प्रदर्शित किए गए। किंतु इसका कुछ भी विचार न किया गया, और १६ जनवरी, १६१६ को रौलट-रिपोर्ट प्रकाशित हो जाने के पश्चात् ६ फ़रवरी, सन् १६१६ को यह बिल सर्वोच्च धारा-सभा में पेश किया गया, और मार्च-मास के तीसरे सप्ताह में पास कर दिया गया।

भारतीयों को विदेशी नौकरशाही के हाथों पहले ही काफ़ी अपमान और हीनावस्था का अनुभव करना पड़ा था। रौलट-ऐक्ट को उनके सिर पर बलात् लाद देना तो अब भारतीयों के लिये खुली चुनौती हो गया था। इस चुनौती को स्वीकार करना आवश्यक था और अत्याचार-पूर्ण पाशविक क़ानूनों को तोड़ना अनिवार्य। क्योंकि उनको चुपके से सिर झुका-कर स्वीकार कर लेने का अर्थ था कायरता का प्रदर्शन करना। स्पष्ट है कि क़ानून तोड़ने से जनता का और विदेशी सरकार का सीधा संग्राम छिड़ जाता, इसके लिये एक संगठित संग्राम की आवश्यकता थी। क्या जनता और कांग्रेस इस प्रकार के संग्राम के लिये प्रस्तुत थी? और, अंततः इस संग्राम का नेतृत्व कौन करता? कांग्रेस के सम्मुख एक विभिन्न-सी परेशानी की स्थिति आ गई थी। प्रत्येक व्यक्ति शंकालु था, और उसे चिंताएँ थीं, और डर था, कोई भी यह नहीं जानता था कि भविष्य में क्या होनेवाला है।

भारतीय इतिहास के इस संकट-काल के अवसर पर एक

व्यक्ति आया, और उसने राष्ट्र की बागडोर अपने हाथों में सँभाली। यह व्यक्ति दक्षिण-आफ्रिका का महान् सत्याग्रही, चंपारन और कैरा का वीर नायक, महात्मा, राजनीतिज्ञ तथा सत्य एवं अहिंसा का अडिग सेनानी था। इस व्यक्ति का नाम था मोहनदास करमचंद गांधी, जो बाद में विश्व द्वारा महात्मा गांधी के नाम से पुकारा गया।

इसके पूर्व गांधीजी ने यह सूचित कर दिया था कि यदि रौलट-रिपोर्ट को क़ानून का रूप दिया गया, तो मैं सत्याग्रह प्रारंभ कर दूँगा। इसके लिये उन्होंने पूरे देश का जोरों के साथ दौरा किया, और प्रत्येक स्थान पर उनका शानदार स्वागत हुआ। वस्तुतः गांधीजी का जिस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों में भव्य स्वागत किया गया, उसे देखकर बहुत-से लोगों को आश्चर्य हुआ कि अजनबी और नव-परिचित व्यक्ति कैसे इतने शीघ्र भारतीय जनता का प्रिय पात्र बन गया, कैसे लोगों ने इसके सत्याग्रह के कार्य-क्रम को इतना अधिक पसंद किया, और अपनी पूर्ण सहमति प्रकट की। गांधीजी के इस जादू-सदृश चमत्कार, उनका इतना अधिक प्रभाव और उनके असंदिग्ध नेतृत्व का कारण स्वयं सरकार ने इन शब्दों में बताया है—

"मिस्टर गांधी की ख्याति पूर्ण निःस्वार्थमय, उच्च आदर्शों-वाले एक टॉलस्टॉय-पंथी के रूप में है। उन्होंने जब से दक्षिण-ऑफ्रिका में भारतीयों के लिये लड़ाई लड़ी, तब से

भारतवर्ष के निवासी उन्हें उसी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, जिस प्रकार वे किसी साधु पुरुष को श्रद्धा और आदर के उच्चासन पर बैठा देते हैं, और जो पूर्व की एक परंपरागत विशेषता है। उनके संबंध में एक और विशेष बात यह है कि वह किसी धर्म विशेष तक ही सीमित नहीं हैं।

"वह किसी भी सताए गए व्यक्ति अथवा वर्ग के लिये सदैव सहायतार्थ अथवा लड़ने के लिये प्रस्तुत रहते हैं, अतः एव अपने देश की जनता के वह बहुत अधिक प्रिय पात्र बन गए हैं। गांधी का विश्वास है कि भौतिक शक्ति से आत्मा की शक्ति अधिक उच्च होती है, अतएव गांधी का यह विश्वास है कि रौलट-ऐक्ट के विरुद्ध निष्क्रिय विरोध (सत्याग्रह) करना उनका कर्तव्य हो जाता है—यह वही शस्त्र है, जिसका उपयोग उन्होंने दक्षिण-ऑफ्रिका में सफलता-पूर्वक किया था।"

भारतवर्ष में सत्याग्रह के शस्त्र का उपयोग गांधीजी ने सर्वप्रथम चंपारन में किया—जहाँ उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। इसके बाद कैरा में इसका प्रयोग किया गया। दक्षिण-ऑफ्रिका के सत्याग्रह के पश्चात् चंपारन और कैरा में सत्याग्रह की सफलता ने गांधीजी को विश्वास दिला दिया कि इस अस्त्र का उपयोग बड़ी-से-बड़ी भौतिक शक्ति के विरुद्ध सफलता-पूर्वक किया जा सकता है, और इसके द्वारा भारत गौरव-पूर्ण विजय प्राप्त करने में समर्थ हो सकेगा।

कांग्रेस ने और संपूर्ण देश ने इस नए सत्याग्रह के शस्त्र का संपूर्ण विश्वास और दृढ़ निश्चय के साथ स्वागत किया, और उसे हृदय से अपनाया। गांधीजी को कांग्रेस ने और समस्त राष्ट्र ने अपना एकमात्र नेता स्वीकार कर लिया। गांधीजी ने सत्याग्रह प्रारंभ कर दिया। सत्याग्रह के दिन सारे राष्ट्र में हड़ताल रही, लोगों ने अपने काम-धंधे पूर्णतः बंद कर दिए, और देश-भर में आंदोलन प्रारंभ हो गया। सरकार ने इस निःशस्त्र आंदोलन को कुचलने के लिये अपनी समस्त शक्ति लगा दी, और निर्दयता-पूर्वक आंदोलन का दमन किया। दिल्ली और अमृतसर में कई बार पुलिस द्वारा गोलियाँ चलाई गईं, जिनमें कई व्यक्ति मरे तथा घायल हुए। अमृतसर के जलियाँवाला बाग़ में सहस्रों निरपराध व्यक्तियों की निर्मम हत्या कर दी गई। पंजाब में लोगों को अत्यंत अपमान-जनक मार्शल लॉ को सहन करना पड़ा, और दयनीय स्थिति में रहना पड़ा। सभी ब्रिटिश अधिकारी, जनरल डायर तथा उसी के सदृश दूसरे अपने इन अत्याचार-पूर्ण और कुत्सित कार्यों के प्रति गर्व का अनुभव करते थे।

१६१६ के सत्याग्रह ने कांग्रेस को यह अवसर दिया कि वह यह जान सके कि लोगों में देश-भक्ति की भावना किस सीमा तक है, साथ ही कांग्रेस यह भी जान सकी कि ब्रिटिश सरकार भारतीय महत्त्वाकांक्षाओं का किस हद तक विरोध कर सकती है।

जवाहर का प्रवेश

महात्मा गांधी द्वारा राष्ट्र का नेतृत्व ग्रहण कर लिया जाना वस्तुतः एक अत्यंत महत्त्व-पूर्ण घटना थी। इससे लगभग एक नवीन युग का प्रारंभ हुआ। यह भारतीय स्वतंत्रता-आंदोलन के इतिहास में एक निश्चयकारी अध्याय था। गांधीजी के महान् व्यक्तित्व, उनकी महान् योग्यता और कार्य-शक्ति, देश के लिये उनका निःस्वार्थ त्याग, और सबसे अधिक उनका सत्य और अहिंसा पर अडिग विश्वास, तथा उनके सत्याग्रह की कार्य-प्रणाली ने न केवल कांग्रेस की शक्ति बढ़ाई और न केवल उसे एक गतिशील संघटन बना दिया, प्रत्युत उन सबने बहुत-से योग्य नवयुवकों में देश-भक्ति की चेतना जाग्रत् की, और उन्हें भारतीय राजनीति के तूफ़ानी समुद्र में लाकर खड़ा कर दिया।

उस समय किसी ने यह कल्पना भी न की थी कि इन्हीं नवयुवकों में से एक—जो प्रयाग के एक प्रसिद्ध वकील का पुत्र था—देश के लिये अनेकों प्रकार के कष्ट और अत्याचार सहकर देश-भक्ति की अग्नि में तपकर खरा सोना सिद्ध होगा, और किसी दिन महान भारतीय प्रजातंत्र का संस्थापक बनेगा। जवाहरलाल की देश-भक्ति की भावना—जो अब तक धनीवर्ग के रहन-सहन में घिरी हुई थी—सर्वप्रथम उस समय प्रकट हुई, जब महात्मा गांधी ने 'सत्याग्रह-सभा' प्रारंभ की। इसके सदस्यगण रौलट-ऐक्ट का विरोध करने के लिये वचन-

बद्ध होते थे, तथा वह अपनी इच्छा से गिरफ़्तार होकर जेल जाने के लिये तैयार रहते थे। गांधीजी के इस कार्य का नेहरू पर क्या प्रभाव पड़ा, यह उन्होंने स्वयं स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार लिखा है—

"जब मैंने समाचार-पत्रों में प्रथम बार सत्याग्रह-सभा के संबंध में पढ़ा, तो मैंने संतोष की साँस ली। अंत में यही एक रास्ता था, जो परेशानी से बाहर निकाल सकता था। यह एक ऐसा तरीक़ा था, जो सीधा, खुला और संभवतः प्रभाव-जनक था। मैं जोश से परिपूर्ण हो गया, और मैंने तत्काल सत्याग्रह-सभा में भाग लेना चाहा। मैंने परिणामों के बारे में तथा क़ानून तोड़ने और जेल जाने का शायद ही विचार किया हो, और यदि किया भी हो, तो मैंने उनकी परवा नहीं की!"

गांधीजी के नेतृत्व का पहलेपहल जवाहरलालजी के मस्तिष्क पर क्या असर पड़ा, इसका वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

"वह ताजी वायु के उस शक्तिशाली झोंके के सदृश था, जिसका स्पर्श पाते ही हम अपने अंग-प्रत्यंगों को फैलाकर गहरी लंबी श्वास लेने लगते हैं। वह उस प्रकाश-पुंज की तरह था, जो अँधेरे को भेदकर हमारी आँखों से धुँधलापन दूर कर देता है। वह उस तूफ़ान की तरह था, जो बहुत-सी वस्तुओं को तितर-बितर कर देता है, किंतु सबसे अधिक जो मानवीय मस्तिष्क को आंदोलित कर देता है। वह किसी उच्च

शिखर से उतरकर नहीं आया था, वह लाखों भारतीयों के बीच से प्रकट होता हुआ-सा दिखाई देता था, उन्हीं की भाषा वह बोलता था, और सदैव उनकी चिंताजनक दशा की ओर उसका ध्यान रहता था। उसने हम लोगों को आदेश दिया—"तुम सब—जो कि किसानों और मजदूरों के शोषण पर जीवित हो—जाओ, और किसान-मजदूरों की सहायता करो, उस आर्थिक व्यवस्था से छुटकारा पाने का प्रयत्न करो, जो यह निर्धनता और तकलीफें पैदा करती है।"

जवाहरलालजी ने गांधीजी का नेतृत्व क्यों स्वीकार किया? अपनी आत्मकथा में वह कहते हैं—

"पंजाब की जाँच के समय मुझे गांधीजी से बहुत अधिक वास्ता पड़ा, प्रायः उनके प्रस्ताव हमारी समिति को विचित्र-से ज्ञात होते थे, और वह उनको स्वीकृत नहीं करती थी। किंतु प्रायः सदैव गांधीजी उनकी स्वीकृति के लिये अंत तक तर्क करते थे, और बाद में आनेवाली घटनाओं से उनकी सलाह की दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता प्रकट हो गई। उनकी राजनीतिक अंतर्दृष्टि में मेरा विश्वास बढ़ता गया।"

शनैः-शनैः, गांधी और जवाहर जैसे-जैसे एक दूसरे के अधिक सन्निकट आते गए, वैसे-ही-वैसे एक दूसरे को अधिक घनिष्ठता से, अधिक स्पष्ट रूप से और गंभीरता से जानते गए।

जवाहरलाल गांधीजी के परम प्रशंसक बन गए, और वह बुद्धि-मानी तथा उत्सुकता-पूर्वक उन्हें समझने के प्रयत्न करने लगे, तथा गांधीजी ने नवयुवक राजनीतिज्ञ जवाहरलाल में एक प्रतिभाशाली व्यक्ति और साधारण चरित्र के देश-भक्त को पाया। इस प्रकार महान् उपदेशक और कर्तव्यशील, उत्साही शिष्य दोनो ही प्रसन्नता-पूर्वक मिलकर काम करते रहे। साथ-ही-साथ उन्होंने अनेकों कष्टों को सहा, ब्रिटिश बंदीगृहों की यातना भुगती, किंतु अथक रूप से अपनी मातृभूमि तथा करोड़ों निरीह जनता की स्वतंत्रता के लिये आजादी की लड़ाई लड़ते रहे।

यहाँ यह एक ध्यान में रखने योग्य वस्तु है कि महात्मा गांधी तथा जवाहरलाल के मूलभूत सिद्धांत और उद्देश्य समान थे, यद्यपि कई बातों में उनकी भाषा और कहने के तरीक़े में अंतर होता था। गांधीजी का उद्देश्य था, उस भारत की उन्नति के लिये प्रयत्न करना, जिसमें सबसे निर्धन व्यक्ति भी यह महसूस करे कि यह उसका भी देश है, जिसके निर्माण में उसका भी प्रभावशाली हाथ हो, ऐसा भारत, जिसमें जनता के उच्च और निम्न वर्ग न होंगे, वह भारत, जिसमें सभी जातियाँ शांति-पूर्वक रहेंगी, जहाँ छुआछूत का पाप न होगा, शराब या अन्य नशीली वस्तुएँ न होंगी, जहाँ की नारियों को भी वे ही अधिकार प्राप्त होंगे, जो पुरुषों को प्राप्त हैं। नेहरू की मुख्य समस्याएँ थीं—व्यक्ति और सामाजिक जीवन की

समस्या, शांति-पूर्ण जीवन-यापन की समस्या, व्यक्ति के आंतरिक और बहिर्जीवन का उचित समन्वय, व्यक्ति और वर्गों के बीच में समुचित संबंध स्थापन की समस्या। नेहरू उस प्रकार के समाज की कल्पना करते हैं, जिसमें मनुष्य अबाध गति से सदैव विकास करता रहे, सदैव वह ऊँचा उठता जाय, और उसके साथ ही समाज का भी विकास हो। यद्यपि गांधीजी और नेहरू की भाषाओं में अंतर है, किंतु दोनो का अर्थ एक और समान है। गांधीजी के शब्दों में, 'भाषा हृदयों की एकता में बाधा नहीं बन सकती।' इस प्रकार एक समान उद्देश्य ने उनको और भी सन्निकट ला दिया, और वे सहयोगी बन गए।

१६२० में गांधीजी ने कांग्रेस का पूर्ण नेतृत्व स्वीकार कर लिया, और उन्होंने कांग्रेस के विधान को तथा इसके कार्य-क्रम और नीति को एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया। राष्ट्रीय महासभा तथा देश ने इस नई नीति और नवीन कार्य-क्रम को एक होकर तथा पूर्ण दृढ़ निश्चय के साथ स्वीकार किया। इसके पश्चात् ब्रिटिश सरकार से बार-बार संघर्ष हुए। ब्रिटिश सरकार और भारतीय जनता में अत्यधिक शत्रु-भाव फैल जाने के कारण सत्याग्रह-आंदोलन और उसके दमन के लिये ब्रिटिशों ने जो अत्याचार किए, उनके कारण इस प्रकार के संघर्ष अनिवार्य बन गए थे। इस आंदोलन के नए तरीक़े के पीछे कोई राजनीतिक चाल अथवा कूटनीतिज्ञता न थी, किंतु

निश्चित ही इनके पीछे भारतीय जनता को ऐक्य में बाँध-कर उसे अधिक-से-अधिक शक्तिशाली बना देने की इच्छा थी, जिससे भारतीय जनता स्वतंत्रता प्राप्त कर सके, और उसे सुरक्षित भी रख सके।

चौथा अध्याय

पूर्ण स्वतंत्रता की माँग

लाहौर में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, वह वस्तुत: स्वतंत्रता के संग्राम का मुख्य प्रेरक और केंद्र था। इस अधिवेशन का एक महत्त्व है ; और भारत की आगामी संतानें इस अधिवेशन को इतिहास की उस महत्त्व-पूर्ण घटना के रूप में स्मरण करेंगी, जिसने भारत में एक नवीन और गतिशील तथा राष्ट्रीय पुनर्जागरण के युग को प्रारंभ किया।

यह समय सन् १९२९ का था, किंतु भारत अब भी उन भयानक और अत्याचार-पूर्ण, दुःखदायक घटनाओं को विस्मृत नहीं कर सका था, जो ब्रिटिश नौकरशाही द्वारा प्रथम सत्याग्रह के दमन के रूप में की गई थीं। लाखों व्यक्तियों को गिरफ्तार करके जेल में डालकर सताया गया था। १९२१ के खिलाफत-आंदोलन में भी इसी प्रकार की अत्याचार-पूर्ण घटनाओं को दुहराया गया था। अमृतसर की दु:खजनक घटना अब भी जनता के हृदय में चीत्कार कर रही थी। असंतोष और कटुता और भी अधिक और विशाल पैमाने पर बढ़ गई थी, और चारों ओर लोगों में उत्तेजना फैली हुई थी। सभी आनेवाली भीषण लड़ाई की प्रतीक्षा कर रहे थे, चारों ओर

संघर्ष का वातावरण फैला हुआ था, भविष्य के गर्भ में महान् घटनाओं का अस्तित्व छिपा हुआ था। धारा-सभा (कौंसिल) के प्रति तीव्र असंतोष और क्रोध व्याप्त हो रहा था, और पंडित मोतीलाल नेहरू-सरीखे मान्य नेताओं ने आदेश दिया कि कौंसिल के सदस्य त्याग-पत्र दे दें। और, इस सब अशांत वातावरण का तर्क पूर्ण परिणाम था—सीधा संघर्ष। किंतु इस भयानक और खतरे से परिपूर्ण मार्ग पर देश का प्रदर्शन, नेतृत्व कौन कर सकता था, कौन इस तूफ़ान के बीच में से राष्ट्र के जलयान को खेकर पार कर सकता था? गांधीजी ही इस समय एक ऐसे सेनानी थे, जिनके नेतृत्व की परीक्षा हो चुकी थी, अतएव अधिकांश कांग्रेसी सदस्यों ने यह इच्छा प्रकट की कि कांग्रेस के लाहौर-अधिवेशन के अध्यक्ष-पद के लिये महात्मा गांधी को ही निर्वाचित किया जाय।

किंतु गांधीजी की राजनीतिक पटुता और दूरदर्शिता ने उन्हें दूसरी दिशा में सोचने को बाध्य किया। गांधीजी को परिस्थिति का पूर्णतः और गहरा ज्ञान था, और वह तत्कालीन परिस्थितियों का बुद्धिमत्ता-पूर्ण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर सकने में समर्थ थे। उन्होंने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से जान लिया कि आगामी संघर्ष बहुत ही भीषण और विशाल होगा, और उसके लिये नवयुवकों की सहायता अनिवार्य होगी। अतएव गांधोजी ने समझ लिया कि इस समय कांग्रेस की गद्दी पर किसी ऐसे नवयुवक को बिठाना उचित होगा, जो देश के नव-

युवकों का विश्वास-पात्र हो, और नवयुवक जिसके नेतृत्व में संघर्ष में भाग ले सकें। 'राष्ट्र के जहाज को एक स्थान से दूसरे स्थान और इसी प्रकार आगे बढ़ते ही जाना था, चाहे कितनी ही बाधाएँ सम्मुख हों, उसे तो अपने तूफ़ानी मार्ग में गतिशील रहना ही था। अतएव आवश्यक था कि इस यान का चालक किसी ऐसे व्यक्ति को बनाया जाय, जिसमें उत्साह हो, और जो नवजीवन से परिपूर्ण हो, जो साहसी और आत्मविश्वासी हो, तूफ़ानों को चीरता हुआ जो आगे बढ़ता ही जाय, किंतु रोकने का यंत्र ऐसे व्यक्ति के हाथ में हो, जो शांत और विचारशील हो, एक वृद्ध राजनीतिज्ञ हो।' महात्मा गांधी की विचार-धारा इस प्रकार की थी, और इसी तर्क पर उन्होंने अपना निश्चय किया। पं० जवाहरलाल नेहरू की योग्यता, साहस और दूरदर्शिता पर महात्माजी का पूर्ण विश्वास था, अतएव अध्यक्ष-पद के लिये उन्होंने नेहरू का नाम प्रस्तावित किया। और अंत में नेहरू, नौजवान नेहरू, लाहौर के ऐतिहासिक कांग्रेस-अधिवेशन के अध्यक्ष निर्वाचित कर दिए गए।

यद्यपि जवाहरलालजी की उम्र अभी कम थी, किंतु कांग्रेस का अध्यक्ष बनने के पूर्व ही वह काफ़ी जन-प्रिय बन चुके थे। जवाहरलाल एक उच्च वर्ग में, एक शाही घराने के व्यक्ति थे, किंतु उनकी राजनीति उच्च वर्ग की राजनीति न थी। उन्होंने किसानों के बीच में तथा शोषित, पीड़ित मानवता के लिये

ही कार्य करना उचित समझा, उसी में देश का त्राण देखा। १९१९ में पंजाब-जाँच-समिति में कार्य करने तथा १९२१ के जन-आंदोलन में भाग लेकर जेल जाने के साथ-ही-साथ उन्होंने किसानों के बीच में काम किया। सैकड़ों गाँवों का उन्होंने तूफानी दौरा किया, किसानों के साथ दिन, सप्ताह और महीने व्यतीत किए, उनकी परिस्थितियों का निकट से अध्ययन किया, उनके कष्टों को देखा और सुना, तथा उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया, और उन्हें संतोष दिलाया। पं० जवाहरलाल का युक्त प्रांत के किसान-आंदोलन और कई जन-आंदोलनों से घनिष्ठ संपर्क हुआ। इस संपर्क द्वारा उन्होंने महसूस किया कि जन-शक्ति कितनी महान् होती है। उन पर इसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा, और उन्होंने यह समझ लिया कि यद्यपि जन-शक्ति अभी एक सूत्रबद्ध नहीं है, किंतु उसकी सामूहिक शक्ति अत्यधिक महान् है। स्वतंत्रता के संघर्ष का आधार जनता की शक्ति को ही बनाया जा सकता है, यह जवाहरलालजी का अमिट विश्वास बन गया। उन्होंने कई बार अपने कार्यों और विचारों से प्रदर्शित कर दिया कि वह जनता के साथ हैं, जनता के हैं, और जनता के लिये हैं। अतएव स्वाभाविकतः लाखों शोषित, पीड़ितों ने कांग्रेस के अध्यक्ष-पद पर जवाहरलाल के निर्वाचन का जोर-दार स्वागत किया। प्रत्येक नवयुवक का हृदय प्रसन्नता से नाच उठा, उसने एक नवीन ज्योति का अनुभव किया, और

उसको यह आशा बन गई कि कांग्रेस में अब निश्चित ही एक क्रांतिकारी परिवर्तन होगा, और देश की स्वतंत्रता के लिये कांग्रेस अब किसी निश्चित, गतिशील और क्रांतिकारी मार्ग का निर्धारण करेगी, तथा देश को पराधीनता की हथकड़ियों से स्वतंत्रता दिलाने में समर्थ हो सकेगी।

वस्तुतः लाहौर-कांग्रेस के अधिवेशन का जवाहरलाल के जीवन में बहुत बड़ा महत्त्व है। उस ऐतिहासिक अवसर पर वह देश की आशाओं के केंद्र-बिंदु थे। यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि कांग्रेस को नवीन नीति-निर्धारण में, उसे एक प्रगतिशील संस्था बनाने में तथा कांग्रेस को पूर्णतः क्रांतिकारी रूप देने में जवाहरलालजी का बहुत बड़ा हाथ रहा है। निश्चित ही, भारतीय स्वतंत्रता के प्रस्ताव के साथ पंडित जवाहरलाल का नाम उसी प्रकार संबंधित है, जिस प्रकार अमेरिका के विधान के साथ जॉर्ज वाशिंगटन का।

ब्रिटिश नौकरशाही के दुष्कृत्यों से, उनकी अत्यंत घृणित साम्राज्यशाही नीति से तथा ब्रिटिशों द्वारा होनेवाले जनता के अत्याचार-पूर्ण शोषण से पंडित जवाहरलाल ने यह निश्चय रूप से जान लिया था, यह उनका दृढ़ विश्वास बन गया था कि जनता के कष्टों का अंत उस समय तक नहीं हो सकता, उस समय तक जनता ग़रीबी और अवनति के गर्त से नहीं उठ सकती, जब तक ब्रिटिश शासकों को इस देश को छोड़

देने के लिये बाध्य नहीं कर दिया जाता, और भारत पूर्ण स्वतंत्र नहीं हो जाता। इसीलिये उन्होंने अपनी पूरी शांति के साथ 'पूर्ण स्वतंत्रता' के प्रस्ताव को स्वीकृत कर लेने पर ज़ोर दिया। उन्होंने 'औपनिवेशिक स्वराज्य' या किसी इसी प्रकार की अन्य वस्तु को—जो ब्रिटिश राज्य को इस देश में बनाए रखने में सहायक होती—मानने से इनकार कर दिया। 'स्वतंत्रता' का उनकी दृष्टि में अर्थ था—'ब्रिटिश राज्य और ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्ति'।

इस प्रकार, जवाहरलाल ने राष्ट्र को एक नवीन संदेश दिया। उन्होंने जनता के सम्मुख एक नवीन विचार, एक नवीन दृष्टिकोण और एक नवीन आदर्श प्रस्तुत किया। अध्यक्ष-पद से दिए गए भाषण में उन्होंने स्वतंत्रता और जनतंत्रवाद के सिद्धांतों का विश्लेषण करते हुए और कांग्रेस के उद्देश्यों में परिवर्तन करने की आवश्यकता बतलाते हुए इस बात पर ज़ोर दिया कि कांग्रेस का उद्देश्य 'पूर्ण स्वतंत्रता' ही रक्खा जाय।

स्पष्टतः इससे कांग्रेस की नीति में एक क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। लाहौर-अधिवेशन में स्वतन्त्रता का प्रस्ताव बहुमत से स्वीकृत हो गया। यह एक बहुत बड़ा क़दम था, जो कि वस्तुतः जवाहरलाल की बहुत बड़ी विजय थी, उनके नए सिद्धांतों और कार्य-पद्धति की विजय थी। सबसे अधिक तो इसका प्रभाव यह हुआ कि देश के नवयुवकों को इससे

बहुत अधिक उत्साह प्राप्त हुआ। राष्ट्र के नवयुवक कांग्रेस की विधानवादी नीति से बहुत अधिक परेशान हो चुके थे, १६वीं शताब्दी की राज्य-भक्ति और शांति-प्रियता के सिद्धांतों पर उनका कोई विश्वास न रह गया था, और वे इस बात की आवश्यकता का अनुभव करते थे कि कोई निर्भीक और साहसी व्यक्ति आकर उनका नेतृत्व करे, जो उन्हें उनके उद्देश्य तक पहुँचाने में समर्थ हो सके।

उपर्युक्त प्रस्ताव के अनुसार कांग्रेस-विधान में आवश्यक परिवर्तन किए गए। 'स्वराज्य' शब्द की जगह पर 'पूर्ण स्वतंत्रता' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। इसके पश्चात् एक प्रस्ताव में यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि भारतीय जनता के लिये 'स्वतंत्रता' का क्या अर्थ होता है, और उसकी क्या परिभाषा है। बाद में इसी प्रस्ताव को 'स्वतंत्रता-दिवस की प्रतिज्ञा' के नाम से पुकारा गया। २६ जनवरी, सन् १६३० को संपूर्ण देश की जनता ने इस स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा को स्वीकार किया। प्रतिज्ञा इस प्रकार है—

"हम यह विश्वास करते हैं कि किसी अन्य देश की जनता की ही तरह भारतीय जनता का भी यह निश्चित अधिकार है कि वह स्वतंत्र रहे, और अपने परिश्रम के फल का उपभोग करे, तथा उसे जीवन की आवश्यकताएँ प्राप्त हों, जिससे उसे विकास के पूर्ण अवसर प्राप्त हो सकें। हम यह भी विश्वास करते हैं कि यदि कोई सरकार जनता से

उसके इन अधिकारों को छीन लेती है, और उसे सताती है, तो जनता को यह अधिकार है कि वह उस सरकार को बदल दे, अथवा समाप्त कर दे। भारतवर्ष में ब्रिटिश सरकार ने न केवल भारतीय जनता की स्वतंत्रता का अपहरण कर लिया है, प्रत्युत उसने जनता के शोषण को अपना आधार बनाया है, और भारत को राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक दृष्टियों से नष्ट कर दिया है। अतएव हमारा विश्वास है कि भारतवर्ष को ब्रिटेन से संबंध-विच्छेद कर लेना चाहिए, और उसे 'पूर्ण स्वतंत्रता' प्राप्त करनी चाहिए।

"आर्थिक दृष्टि से भारतवर्ष को नष्ट कर दिया गया है। हमारी जनता से जो कर आदि लिया जाता है, वह हमारी आय के किसी भी उचित अनुपात से बहुत अधिक है। हमारी औसत आय ६ पैसे (दो पेंस से भी कम) प्रतिदिन है, और हम जिन लंबे-लंबे करों को देते हैं, उनमें से २० प्रतिशत भूमि-कर के रूप में किसानों से वसूल किया जाता है, तथा ३ प्रतिशत की आय 'नमक-कर' से होती है, जिसका बोझ सबसे अधिक निर्धनों पर पड़ता है।

"ग्रामोद्योगों को—जैसे सूत कातना आदि—नष्ट कर दिया गया है, जिससे किसानों को वर्ष में कम-से-कम ४ मास बेकार रहना पड़ता है। हस्त-कौशल के कार्यों के अभाव के कारण उनकी बौद्धिक क्षति हो रही है, दूसरे देशों की तरह यहाँ इनके अभाव की पूर्ति के लिये किसी दूसरे कार्य की व्यवस्था नहीं की गई।

"चुंगी और करेंसी की व्यवस्था इस प्रकार की गई है, जिससे किसानों पर और भी अधिक बोझ पड़े। आयात माल में अधिकांश माल वह होता है, जो ब्रिटेन में बनाया जाता है। चुंगी-कर से ब्रिटिश माल के प्रति पक्षपात-पूर्ण रुख स्पष्ट प्रकट होता है, और इस कर से जो आय होती है, उसका उपयोग जनता के बोझ को हलका करने के लिये नहीं किया जाता, प्रत्युत एक अत्यधिक अतिव्ययी शासन को व्यवस्थित रखने के लिये किया जाता है। इसके सिवा सबसे अधिक पक्षपात प्रकट होता है मुद्रा-परिवर्तन के अनुपात से, जिसके परिणाम-स्वरूप इस देश का लाखों रुपया देश के बाहर चला जा चुका है।

"राजनीतिक दृष्टि से भारत की स्थिति कभी इतनी हीन नहीं रही, जितनी ब्रिटिश शासन के अंतर्गत हो गई है। किन्हीं भी सुधारों से जनता को वास्तविक राजनीतिक शक्ति प्राप्त नहीं हुई। हममें से सबसे बड़े को भी विदेशी शक्ति के सम्मुख नत-मस्तक हो जाना पड़ता है। हमारे स्वतंत्रता-पूर्वक अपना मत प्रकट करने तथा स्वतंत्रता-पूर्वक एक दूसरे से मिल सकने के अधिकार का अपहरण कर लिया गया है, और हमारे बहुत-से देश-भाइयों को विदेशों में निर्वासित जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य कर दिया गया है, तथा वे लौटकर अपने देश में नहीं आ सकते। हमारी शासन-योग्यता की हत्या कर दी गई है, और जनता को छोटे-छोटे

ग्राम-अधिकारियों तथा क्लर्क-पद से ही संतोष कर लेना पड़ता है।

"सांस्कृतिक दृष्टि से, शिक्षा-प्रणाली ने हमें अपनी सांस्कृतिक परंपरा से अलग कर दिया है, और हमें इस प्रकार शिक्षित किया गया है कि हम उन्हीं-उन्हीं बंधनों को पुष्ट कर रहे हैं, जिनसे हम जकड़े हुए हैं।

"नैतिक दृष्टि से, अनिवार्य निःशस्त्रीकरण ने हमें कापुरुष बना दिया है। इस देश में विदेशी सेना उपस्थित है, जिसने हमारे विरोध का अत्याचार-पूर्वक दमन करके हमें इस प्रकार सोचने पर बाध्य कर दिया है कि हम स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकते, और किसी विदेशी आक्रमण का मुकाबला भी नहीं कर सकते, तथा यहाँ तक कि चोर, डाकुओं और बद-माशों से अपने घरों और परिवारों की रक्षा नहीं कर सकते।

"हमारा यह विश्वास है कि यदि हम अब इस शासन द्वारा अपने को और अधिक शासित होने देते हैं—ऐसा शासन, जिसने उपर्युक्त चारों दृष्टियों से हमारे देश को नष्ट कर दिया है—तो हम मनुष्य और परमात्मा के प्रति अपने को अपराधी सिद्ध करते हैं। हम यह मानते हैं कि स्वतंत्रता प्राप्त करने की सर्वश्रेष्ठ विधि हिंसा नहीं है। अतएव हम ब्रिटिश सरकार से सभी प्रकार के ऐच्छिक संबंध विच्छेद करने के लिये तैयार हैं। और, हम सक्रिय अवज्ञा-आंदोलन के लिये प्रस्तुत रहेंगे, जिनमें करों को न देना भी सम्मिलित होगा। हमें इसका

विश्वास है कि यदि बिना हिंसा ग्रहण किए—उत्तेजना के समय भी—हम ब्रिटिशों को ऐच्छिक सहायता तथा कर देना बंद कर दें, तो निश्चित ही इस अमानुषीय शासन का अंत हो जायगा। अतएव हम यहाँ पूर्ण गंभीरता के साथ निश्चय करते हैं कि हम समय-समय पर, पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के उद्देश्य से, कांग्रेस द्वारा दिए जानेवाले आदेशों का पालन करेंगे।"

यह स्पष्ट है कि कांग्रेस की इस प्रतिज्ञा में तीन बातों पर विशेष जोर दिया गया है। प्रथमतः इसने यह निर्देश किया कि ब्रिटिश शासन द्वारा भारत राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और नैतिक हीनता की स्थिति को प्राप्त हुआ है। दूसरे, इसने निश्चित शब्दों में इस मान्यता को स्थापित कर दिया कि भारतवर्ष की मुक्ति उसी समय हो सकती है, जब ब्रिटिश राज्य की समाप्ति हो जाय, और भारत पूर्ण स्वतंत्र हो जाय, तथा विशेष सुविधाओं और निहित स्वार्थों का भी अंत कर दिया जाय। तीसरे, इसने स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिये संघर्ष करने का एक निश्चित और प्रभाव-पूर्ण तरीका अख्तियार किया—अहिंसा द्वारा अवज्ञा-आंदोलन का तरीका—जो कि अंत में सफल भी हुआ।

पंडित जवाहरलाल को राष्ट्र-पति के पद पर चुनकर महात्मा गांधी ने जो दूरदर्शिता दिखाई, उसका शुभ फल स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा के पश्चात् ही प्रकट होना प्रारंभ हो गया। देश की

नई पीढ़ी में इसने एक तहलका-सा मचा दिया। २६ जनवरी, सन् १६३० को देश की सभी जनता ने—बुद्धिजीवी तथा विद्यार्थियों ने, किसानों और मजदूरों ने, सभी ने—कांग्रेस के झंडे के नीचे खड़े होकर स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा को दुहराया, और स्वतंत्रता-प्राप्ति के लक्ष्य के हेतु कांग्रेस के नेतृत्व पर चलने का निश्चय किया। स्वतन्त्रता-दिवस के उत्सवों ने यह प्रकट कर दिया कि जो लोग निरुत्साह तथा निराशा-से प्रतीत होते थे, वस्तुतः उनमें कितना जोश, उत्साह और महान् त्याग की भावना भरी पड़ी है। देश-भक्ति और त्याग की कभी न बुझ सकनेवाली आग वस्तुतः विधानवाद और उदारतावाद की राख के ढेर के पीछे छिपी पड़ी थी। आवश्यकता इस बात की थी कि उस राख के ढेर को हटा दिया जाय, जिससे भावनाओं की तेज आग और अपूर्व कार्य-क्षमता ऊपर उभर सकें। और, देश के महान् नेता, कांग्रेस के नवयुवक अध्यक्ष पंडित नेहरू ने इस कार्य में बिलकुल देर नहीं की, कांग्रेस ने शीघ्र ही एक योजना तैयार कर ली, जिसके अनुसार संपूर्ण देश को संघर्ष के लिये तैयार करना था।

स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा में एक बहुत छोटी-सी चीज थी, जिसे कांग्रेस ने ब्रिटिशों के विरुद्ध संघर्ष के लिये अपना आधार बनाया, एक क्रांतिकारी, महान् संघर्ष के लिये इतना छोटा-सा आधार! बहुत-से लोगों के आश्चर्य की सीमा न रही। वस्तुतः यही संपूर्ण योजना के नियोजकों की दूरदर्शिता

और बुद्धिमत्ता का प्रमाण था। नमक, नमक एकाएक एक रहस्यमय शब्द बन गया। यह एक शक्ति का शब्द बन गया, सविनय अवज्ञा-आंदोलन का एक महान् शस्त्र बन गया। निश्चय हुआ कि नमक-कर न दिया जाय, और नमक-क़ानून को भंग कर दिया जाय।

१२ मार्च, सन् १६३० को गांधीजी ने अपने कुछ उत्साही सत्याग्रहियों के साथ दांडी-यात्रा प्रारंभ की। यह ऐतिहासिक यात्रा उनके साबरमती-आश्रम से प्रारंभ हुई थी। जैसे-जैसे लोग इस महायात्रा के पद-चिह्नों का अनुकरण करते गए, वैसे-ही-वैसे देश का उत्साह तीव्रतम वेग से बढ़ता गया। समस्त देश ने गांधीजी के नवीन संघर्ष पर चलना प्रारंभ किया, किंतु जनता ने गांधीजी से माँग की कि वह अपने संघर्ष को और अधिक स्पष्ट करें, और संघर्ष को चलाने के लिये आवश्यक, निश्चित आदेश दें। गांधीजी ने संघर्ष की योजना के बारे में अपने विचार प्रकट कर दिए, जिन्हें लोगों ने भिन्न-भिन्न तरीक़ों से समझा और समझाया। किंतु एक बात स्पष्ट थी कि असहयोग और अहिंसा केवल निषेधात्मक शब्द ही नहीं थे, प्रत्युत उनके अंदर बहुत ही शक्तिशाली और व्यावहारिक प्रतिरोध की योजना निहित थी। अहिंसा इस संघर्ष की कला थी, और 'सत्य' उसका बल। नमक-संघर्ष वस्तुतः एक पूर्णतः सुरक्षित शक्ति के विरुद्ध युद्ध करने का प्रयत्न न था, और न असीम सागर के ऊपर

विजय प्राप्त करना ही इसका उद्देश्य था। यह भारतीय जनता की भावनाओं का प्रतीक था, ब्रिटिश शासन के अत्याचार-पूर्ण शासन के प्रति भारतीय जनता की प्रतिक्रिया थी, यह ब्रिटिशों द्वारा बनाए हुए उन पक्षपात-पूर्ण क़ानूनों और नौकर-शाही के नियमों के प्रति एक तीव्र विरोध था, जिन्हें न तो भारतीय जनता के समर्थन से बनाया गया था, और न जिनका निर्माण नैतिकता तथा मानवता के सिद्धांतों के आधार पर ही हुआ था। साबरमती-आश्रम से कुछ सत्याग्रहियों के साथ गांधीजी की यात्रा एक अत्यंत दर्शनीय दृश्य था, अपूर्व दर्शनीय दृश्य, उतना ही महान् और ऐतिहासिक, जितना वह दृश्य, जब जर्मन राइनलैंड से चलकर पेरिस-क़िले के अत्यंत सन्निकट स्थित स्थान मार्ने पर पहुँचे थे। अपूर्व दृश्य था वह, जब कि गांधीजी ब्रिटिश विरोध की चिंता से मुक्त अपने पंथ पर बढ़ते ही चले गए थे, वह भारतीय इतिहास का एक अमर क्षण था।

कुछ दोक़ियानी और कुर्सी-तोड़ राजनीतिज्ञों ने आशा की थी कि युद्ध का प्रथम प्रहार बड़े ज़ोर का प्रहार होगा। किंतु उन्होंने जब लड़ाई का तरीक़ा देखा, तो इसका उपहास करना प्रारंभ कर दिया। किंतु यह उपहास अधिक नहीं चल सका। शीघ्र ही उनमें सुबुद्धि आई, और उन्होंने इस योजना के नियोजक की महत्ता का अनुभव कर लिया, उसकी बुद्धिमत्ता को मान लिया। स्पष्ट है कि युद्ध का प्रथम प्रहार किस

विध्वंसक द्रव्य से नहीं किया गया, प्रत्युत एक साधारण, हानि-रहित द्रव्य से किया गया, जिसे साधारण भाषा में नमक कहा जाता है।

किंतु इस जीवनोपयोगी द्रव्य, छोटी-सी वस्तु का जो प्रभाव हुआ, वह महान् था। किसी ने इसकी आशा भी न की थी। इस छोटी-सी लड़ाई, एक उपहासास्पद आंदोलन की ब्रिटिश शासकों में जो प्रतिक्रिया हुई, वह आश्चर्य-जनक थी। समस्त सभ्य संसार ने बड़े ध्यान से इस संघर्ष की ओर देखा विश्व की प्रतिक्रिया अवर्णनीय है। गांधीजी के इस आंदोलन का एक बहुत बड़ा प्रभाव विश्व पर यह पड़ा कि समस्त विश्व ने यह जान लिया कि भारत ब्रिटिश राज्य के प्रति, उसकी साम्राज्यवादी नीति के प्रति और उस सभी के प्रति, जिसके लिए वह भारत में है, विद्रोह कर रहा है, शांति-पूर्ण विद्रोह, रक्त-हीन विद्रोह ! अहिंसा के सिद्धांत पर महात्माजी का अडिग विश्वास था, और अपने कार्य के औचित्य पर भी, अपने पथ पर सदैव बढ़ते रहने के लिये वह दृढ़-प्रतिज्ञ थे, और अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उनका निश्चय दृढ़ था। साथ ही उन्होंने देश की बागडोर का एक सिरा पंडित जवाहरलाल के हाथों में सौंप दिया, और उनकी कार्य-दक्षता और नेतृत्व पर महात्माजी का पूर्ण विश्वास था। इन सब बातों से यह पूर्णतः स्पष्ट था कि निश्चय ही भारत एक दिन अपनी दासता की बेड़ियों को तोड़ने में समर्थ होगा, और

अंत में एक महान् गौरवशाली राष्ट्र के रूप में विश्व के सम्मुख प्रकट होगा।

६ एप्रिल, सन् १९३० को गांधीजी ने दांडी-समुद्र-तट पर नमक-क़ानून को भंग करना प्रारंभ किया। इस दिवस का एक विशेष महत्त्व था। १९१९ की घटनाओं के पश्चात् से यह दिन और सप्ताह, संपूर्ण देश में, एक राष्ट्रीय सप्ताह के रूप में मनाया जाने लगा था। गांधीजी द्वारा नमक-क़ानून के भंग करने के कुछ दिनों पश्चात् समस्त राष्ट्र की कांग्रेस-संस्थाओं ने देश-भर में सविनय अवज्ञा-आंदोलन प्रारंभ कर दिया। आंदोलन एक काफ़ी बड़े पैमाने में शुरू हो गया। १४ एप्रिल को कांग्रेस के अध्यक्ष पंडित जवाहरलाल नेहरू को गिरफ्तार कर लिया गया, और नमक-क़ानून भंग करने के अपराध में उन्हें ६ मास के लिये जेल भेज दिया गया। इसके प्रतिक्रिया-स्वरूप देश-भर में आंदोलन व्यापक रूप से चलने लगा। लोगों ने जुलूस निकाले और हड़तालें प्रारंभ हो गईं, तथा साथ-ही-साथ ब्रिटिश सरकार का भयंकर-दमन भी प्रारंभ हो गया। ऊँचे-ऊँचे सरकारी ओहदों पर काम करनेवाले बहुत-से भारतीयों ने अपने पदों से त्याग-पत्र दे दिए, और आंदोलन में सम्मिलित हो गए। उस समय तक विदेशी कपड़े और ब्रिटिशों द्वारा तैयार किए गए माल का भी पूर्णतः बहिष्कार हो चुका था।

इसी समय पहलेपहल भारतीय नारियों ने भी स्वतंत्रता के

संग्राम में भाग लिया। पंडित जवाहरलाल नेहरू और उनके पिता के कार्यों से प्रभावित होकर सर्वप्रथम नेहरू-परिवार की स्त्रियाँ संघर्ष में आई। उनमें मुख्य थीं पंडित नेहरू की पत्नी श्रीमती कमला नेहरू और उनकी बहन श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित। स्वतंत्रता-संग्राम के लिये महिलाओं का संगठन करने में इन दोनो ही महिलाओं का बहुत बड़ा हाथ था।

वास्तव में सविनय अवज्ञा-आंदोलन एक जनता का आंदोलन था, ऐसा आंदोलन, जैसा अब तक भारतीय इतिहास में नहीं हुआ था। भारतीय जनता की कांग्रेस के प्रति कितनी श्रद्धा और भक्ति थी, यह भी इस आंदोलन से प्रदर्शित होता था। जवाहरलालजी को ६ मास के पश्चात् जेल से मुक्त कर दिया गया। उनकी मुक्ति के पश्चात् शीघ्र ही समूचे युक्त प्रांत में कर न देने का आंदोलन प्रारंभ हो गया। जवाहरलालजी ने इस आंदोलन में बहुत अधिक भाग लिया, इससे आंदोलन को बहुत अधिक शक्ति और गति प्राप्त हुई। इसका प्रसार देश-भर में हो गया। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने इन आंदोलनों का दमन अत्यधिक निर्दयता-पूर्वक किया, और कोई कोर-कसर उठा न रक्खी, किंतु इन सबके बावजूद आंदोलन उग्रतम होता गया, और अंत में ब्रिटिश नौकरशाही के दिमाग़ ठिकाने आना प्रारंभ हुआ। तत्कालीन वायसराय लॉर्ड इरविन ने संधि-चर्चा चलाई। कांग्रेस के नेताओं को

जेल-मुक्त कर दिया गया, और संधि-चर्चाएँ प्रारंभ हो गईं।

इसी समय भारत को एक बहुत बड़ी अपूर्णीय क्षति सहन करनी पड़ी। लगातार काफी समय तक जेल में रहने के कारण पंडित मोतीलाल नेहरू का स्वास्थ्य बिगड़ गया था। जेल से मुक्त होने के पश्चात् भी स्वास्थ्य में कुछ सुधार न हुआ, और वह दिन-प्रति-दिन क्षीण होता गया। अंत में ६ फ़रवरी, सन् १९३१ को उनका स्वर्गवास हो गया। उनके देहावसान के समय अंतिम शब्द थे—"भारत के भाग्य का निर्णय स्वराज्य-भवन में ही कर लो*। मेरी उपस्थिति में यह भारत-भाग्य-निर्णय हो जाय। इस निर्णय में, मेरी मातृ-भूमि के भाग्य-निर्णायकों में मुझे भी होने दो। यदि मुझे मरना ही है, तो मुझे एक स्वतंत्र भारत में मरने दो। मैं अपनी अंतिम निद्रा एक स्वतंत्र देश में सोना चाहता हूँ, न कि एक पराधीन देश में।" इस प्रकार भारत-माता का एक महान् लाल उठ गया, ऐसा लाल, जो महान् विद्वान्, अनुभवी राजनीतिज्ञ और त्याग की मूर्ति था। निस्संदेह पंडित मोतीलाल एक शाहाना आदमी, अभिजातवर्गीय

---

* सविनय अवज्ञा-आंदोलन के प्रारंभ होने के पश्चात् ही पंडित मोतीलाल ने अपने प्रयाग के भवन 'आनंद-भवन' को कांग्रेस को दान कर दिया था। उस समय से उसका नाम 'स्वराज्य-भवन' हो गया था।

व्यक्ति थे, किंतु वह सभी दृष्टियों से शाहाना व्यक्ति थे, बुद्धि, संस्कृति, चरित्र—सभी में। उनका स्वर्गवास इस संक्रांति-काल में एक बहुत बड़ी क्षति थी, जो अपूर्णीय थी, क्योंकि पंडित मोतीलाल का दृष्टिकोण बहुत विस्तृत था, परिस्थितियों को समझ सकने की शक्ति उनकी अतुलनीय थी। बड़ी-से-बड़ी राजनीतिक उलझनों के बीच में भी वह अपनी मानसिक स्थिति को दृढ़, स्थिर और शांत बनाए रह सकते थे। उन्हीं-सरीखा व्यक्ति इस समय देश का अत्यधिक हित कर सकता और ठीक निश्चय पर पहुँच सकता था। यद्यपि मोतीलालजी एक धनी व्यक्ति थे, किंतु महात्माजी की प्रेरणा से प्रेरित होकर उन्होंने निर्धनता तथा त्याग का अनुशासन माना, और अपने जीवन तथा चरित्र को पूर्णत: विशुद्ध बनाया। इसके सिवा उनका धनवान् होना एक विशेष प्रकार का था। वह दूसरे पैसेवाले व्यक्तियों की तरह भारत में या उसके बाहर रुपया बेकार बरबाद न करते थे। उन्होंने अपने धन को पूरे राष्ट्र की संपत्ति बना दिया। उनका निवास-स्थान 'आनंद-भवन' एक बहुत बड़े महल के सदृश था। उसे उन्होंने कांग्रेस को दान कर दिया। यह दान जितना ही अधिक देश-भक्ति-पूर्ण था, उतना ही अधिक महान् था। किंतु ईंटों, पत्थरों से निर्मित इस भवन का दान ही उनका देश के लिये सबसे बड़ा दान नहीं है। उन्होंने देश को एक बहुत महान् दान दिया है, रक्त और मांस से निर्मित—वह है अपने पुत्र

पंडित जवाहरलाल नेहरू का दान—यह एक अतुलनीय दान है। ऐसे बहुत कम पिता होंगे, जो यह न चाहते होंगे कि उनके पुत्र जज, मंत्री या राजदूत बनें। किंतु पंडित मोतीलाल-जी ने दूसरी ही तरह सोचा। उन्होंने देश के लिये स्वयं कष्ट सहा, और अपने पुत्र को भी कष्ट सहन करवाना पसंद किया। उनका पुत्र भी वास्तव में प्रशंसनीय है, जिसने देश के लिये सभी प्रकार की कठिनाइयों को पार किया, कष्ट सहे, और अंत में अपने पिता के लक्ष्य की पूर्ति की। वह देश भी स्तुत्य है, जिसने इस नर-रत्न को अपने हृदय में स्थान दिया, और उसे उस उच्चासन पर आसीन किया, जिसका वह वस्तुतः पात्र है।

५ मार्च, सन् १९३१ को लॉर्ड इरविन ने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की, जिसमें उन समझौतों की चर्चा की, जो कांग्रेस और वायसराय के बीच तय हुए थे। इस समझौते का नाम बाद में 'गांधी-इरविन-समझौता' पड़ा। इस समझौते में सरकार ने कांग्रेस को यह विश्वास दिलाया कि भारतीय जनता की माँग पूरी करने के लिये शीघ्रातिशीघ्र निश्चित प्रयत्न किए जायँगे, और कांग्रेस ने समझौते को मानते हुए सविनय अवज्ञा-आंदोलन को बंद कर देने का वचन दिया। किंतु जब ब्रिटिश सरकार ने अपनी धोका देने की नीति को पुनः दुहराने का प्रयत्न किया, देर करने के तरीकों को पूर्ववत् उपयोग में लाना प्रारंभ किया, और दूसरी गोल मेज-परिषद्

में भी उन्हीं तर्कों को पुनः दुहराया, जिन्हें प्रथम गोल मेज-परिषद्* में कहा गया था, तब सभी देशवासियों को ब्रिटिश सरकार की छद्मता का ज्ञान हो गया। लोगों की आशावादिता समाप्त हो गई, और उनका अब किसी भी सम्मान-पूर्ण समझौते पर कोई भी विश्वास न रह गया था। समझौते की सभी संभावनाएँ समाप्त हो चुकी थीं। गांधी-इरविन-समझौते को उठाकर एक ओर फेंक दिया गया, और भारतवर्ष में ब्रिटिश नौकरशाही उसी पुराने अत्याचार-पूर्ण तरीक़े पर शासन करती रही।

कांग्रेस की दृष्टि में स्वतंत्र भारत का अर्थ

१९३१ में कांग्रेस के कराची-अधिवेशन के समय पर कांग्रेस के सम्मुख एक बहुत बड़ा मसला पेश हुआ। यद्यपि १९२९ में कांग्रेस ने निःसंदेह रूप से यह घोषित कर दिया था कि कांग्रेस का उद्देश्य पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना है, और निश्चय ही वह इससे कम कुछ भी स्वीकार न करेगी। पर तब भी कांग्रेस में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो यह महसूस करते थे कि कांग्रेस अब भी उसी पुराने औपनिवेशिक स्वराज्य की पुरानी माँग के लक्ष्य पर चल रही है, तथा किसानों और मजदूरों की समस्याओं और समाजवादी

---

* प्रथम गोल मेज़-परिषद् लंदन में हुई थी, जिसमें उदारदलीय नेताओं ने भाग लिया था, और जिसका कोई भी परिणाम नहीं निकला।

विचारों की उपेक्षा कर रही है। वस्तुतः इस समय यह पूर्णतः आवश्यक हो गया था कि देश को एक बार फिर से विश्वास दिलाया जाय कि कांग्रेस अपनी पूर्ण स्वतंत्रता की माँग पर दृढ़ है, तथा वह इस संबंध में किसी भी प्रकार के समझौते को स्वीकार न करेगी। इसके सिवा यह भी आवश्यक हो गया था कि जनता के सामने उन मूलभूत सिद्धांतों और नीतियों को रक्खा जाय, जिनके आधार पर कांग्रेस स्वतंत्र भारत का शासन संचालन करेगी।

लाहौर-कांग्रेस के अध्यक्ष के पद से दिए गए अपने भाषण में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने स्पष्ट बता दिया था कि समाजवादी और प्रजातांत्रिक विचार-धारा में उनका पूर्ण विश्वास है; साथ ही पंडित नेहरू ने समाजवादी विचारों, आर्थिक सुधारों और मूलभूत सिद्धांतों पर विशेष जोर दिया था। मनोविज्ञान के विद्वान् होने के नाते पंडित नेहरू ने जनता की भावनाओं और परिस्थितियों को समझने में देर नहीं की, और उन्होंने इस बात की जोरदार माँग की कि इसकी घोषणा कर दी जाय कि स्वतंत्र भारत में राज्य और प्रजा के क्या संबंध होंगे, तथा उनके कार्य, कर्तव्य और अधिकार क्या होंगे। गांधीजी यह भी ठीक तरह जानते थे कि जवाहरलाल गरीब किसानों और मजदूरों के सबसे बड़े हितचिंतक हैं, उनकी दशा और उनके जीवन का सुधार करना जवाहरलाल-जी का सबसे बड़ा उद्देश्य है, अतएव पंडित नेहरू ने जो-जो

सुझाव रक्खे, गांधीजी ने उन सभी को स्वीकार कर लिया। अंततः कराची-कांग्रेस के अधिवेशन में एक 'मूलभूत सिद्धांतों का प्रस्ताव' पास किया गया। इसके अध्यक्ष सरदार वल्लभ भाई पटेल थे। अगस्त, १९३१ को बंबई में होनेवाली अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी की बैठक में सुधारों के साथ स्वीकृत होकर यह प्रस्ताव इस रूप में आया—

"इस कांग्रेस की यह राय है, जिससे जनता को स्पष्ट हो जाय कि कांग्रेस स्वराज्य की क्या परिभाषा मानती है, और इसका अर्थ उनके लिये क्या होगा, अतएव स्वराज्य का अर्थ उनके सामने एक इस आसान तरीके से रक्खा जाय, जो उनकी समझ में आ जाय। जनता के होनेवाले शोषण का अंत करने के लिये यह आवश्यक है कि लाखों बुभुक्षित व्यक्तियों को राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-ही-साथ आर्थिक स्वतंत्रता भी मिलनी चाहिए। अतएव कांग्रेस यह घोषित करती है कि कोई भी विधान, जो कांग्रेस की सम्मति से बने, उसे इस तरह का बनाया जाय कि वह जनता को निम्न-लिखित सुवि-धाएँ दे सके—

मूलभूत सिद्धांत और कर्तव्य

१—(१) भारत के प्रत्येक नागरिक को अपना स्वतंत्र मत प्रकट करने की स्वतंत्रता होगी। उसे किसी से भी स्वतंत्रता-पूर्वक मिल-जुल सकने तथा एक स्थान पर बिना शस्त्रों के और शांति-पूर्ण तरीकों से एकत्र हो सकने का अधिकार होगा।

किंतु यह किसी ऐसे कार्य के लिये न हो सकेगा, जो क़ानून अथवा नैतिकता के विरुद्ध होगा।

(२) प्रत्येक नागरिक अपनी आत्मिक स्वतंत्रता का उपभोग कर सकने का अधिकारी होगा, तथा शांति-व्यवस्था और नैतिकता का ध्यान रखते हुए प्रत्येक नागरिक को अपने धर्म पर चलने और उसका प्रचार करने का पूर्ण अधिकार होगा।

(३) विभिन्न भाषावाले प्रांतों तथा अल्पमतों की संस्कृति, भाषा और लिपि की रक्षा की जायगी।

(४) विधान की दृष्टि में सभी नागरिक समान समझे जायँगे, इसमें जाति, विश्वास, नर अथवा नारी का विचार न किया जायगा।

(५) किसी जन-सेवा अथवा नौकरी, शक्ति-पूर्ण अधिकार अथवा सम्मान की प्राप्ति में और व्यापार अथवा पेशा आदि के करने में किसी भी नागरिक का धर्म, विश्वास अथवा लिंग-भेद बाधा न बनेगा।

(६) सभी नागरिकों के कुओं, तालाबों, सड़कों, स्कूलों और जन-उद्यानों आदि के संबंध में—जिनको सरकार ने जनता के लिये बनवाया हो अथवा किसी व्यक्ति ने आम जनता के लाभ के लिये दान कर दिया हो—समान कर्तव्य होंगे, और उनको समान अधिकार प्राप्त होंगे।

(७) सभी नागरिकों को नियमों के अनुसार शस्त्रादि रखने का अधिकार होगा।

(८) किसी भी व्यक्ति की स्वतंत्रता, निवास-स्थान और संपत्ति का उस समय तक अपहरण न किया जायगा, जब तक क़ानून के अनुसार ऐसा करना आवश्यक न हो जायगा।

(९) सभी धर्मों के प्रति राज्य (शासन) तटस्थता का भाव ग्रहण करेगा।

(१०) मतगणना और चुनाव आदि वयस्क मतगणना के सिद्धांत पर होंगे।

(११) राज्य निःशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का प्रबंध करेगा।

(१२) राज्य किसी भी प्रकार की पदवी आदि न देगा।

(१३) फाँसी के दंड का विधान न होगा।

(१४) किसी भी व्यक्ति को भारत के किसी भी भाग में आने-जाने अथवा बसने का पूरा अधिकार होगा, उसे संपत्ति प्राप्त करने तथा किसी प्रकार का व्यापार और नौकरी करने का समान अधिकार होगा, तथा क़ानून के द्वारा भी उसके साथ समान व्यवहार किया जायगा, और क़ानून द्वारा समान रक्षा प्राप्त होगी।

मजदूर

२—(१) आर्थिक जीवन के संघटन को न्याय के सिद्धांतों पर इस प्रकार चलाना चाहिए, जिससे जीवन-निर्वाह का स्तर उच्च और सम्मान-पूर्ण बन सके

(२) राज्य का कर्तव्य होगा कि वह मिलों आदि में काम करनेवाले मज़दूरों के हितों की रक्षा करे, और उनके लिये उपयुक्त क़ानूनों द्वारा तथा दूसरे तरीक़ों द्वारा इसका प्रबंध करेगा कि मज़दूरों के लिये जीवन-निर्वाह के उपयुक्त मज़दूरी, काम करने की सुविधाएँ, मज़दूरी के सीमित घंटे (समय), मालिकों और मज़दूरों के बीच में होनेवाले झगड़ों को सुलझाने के लिये उपयुक्त व्यवस्था, तथा बुढ़ापे, बीमारी अथवा बेकारी के समय आर्थिक दुष्परिणामों से बचाने की व्यवस्था आदि का समुचित प्रबंध हो सके।

(३) मज़दूरों का दासत्व से अथवा उन वस्तुओं से, जो दासत्व की ओर ले जानेवाली हैं, छुटकारा दिलाना।

(४) महिला मज़दूरों की रक्षा का प्रबंध और विशेषतः उस समय, जब वे गर्भवती हों।

(५) जिन लड़कों की उम्र स्कूल जाने योग्य है, उन्हें खानों और कारख़ानों में नौकरी पर न लगाया जायगा।

(६) किसानों और मज़दूरों को अपने हितों की रक्षा के लिये अपने संघटन बनाने का अधिकार होगा।

(७) भूमि के नियमों और भूमि-करों में शीघ्रातिशीघ्र सुधार करना और कृषि की भूमि का इस प्रकार समान रूप से प्रबंध और व्यवस्था करना, जिससे इसका भार सभी पर समान रूप से पड़ सके। छोटे-छोटे किसानों के भूमि-कर में कुछ कमी करके उन्हें सुविधा देना और ऐसे समयों पर, जब

कि उन्हें भूमि से कुछ लाभ न हो रहा हो, तब उन्हें भूमि-कर से मुक्त कर देना, जब तक के लिये वह आवश्यक हो, तथा इस प्रकार की कमी आदि से छोटी-छोटी रियासतों के मालिकों को जो नुक़सान हो, उसके लिये दूसरी भूमियों पर एक निश्चित परिमाण पर अन्य कर लगाना।

(८) एक निश्चित कम-से-कम संपत्ति से अधिक संपत्ति पर मृत्यु-कर लगाना, जो संपत्ति के अनुसार कम या अधिक होगा।

(९) फ़ौज के संबंध में होनेवाले खर्चे को बहुत कम कर दिया जायगा, इतना कि आज वह जितना है, उसका आधा रह जाय।

(१०) ग़ैर फ़ौजी महकमों में व्यय तथा कर्मचारियों का वेतन कम किया जायगा। विशेष रूप से नियुक्त तथा विशेष सिद्धहस्त कर्मचारियों को छोड़कर किसी भी सरकारी कर्मचारी को एक निश्चित परिमाण से अधिक वेतन नहीं मिलेगा, जो ५००) से अधिक न होगा।

(११) भारतवर्ष में बनाए गए नमक पर किसी भी प्रकार का कर न लगाया जायगा।

आर्थिक और सामाजिक कार्य-क्रम

(१२) राज्य देशी कपड़े तथा भारत में बनाए हुए सूत और कपड़े को प्रोत्साहन देगा, तथा रक्षा करेगा, अतएव इसके लिये वह विदेशी कपड़े और सूत को बंद करने का प्रयत्न

करेगा, तथा और भी उपयुक्त उपायों को काम में लाएगा। आवश्यकता पड़ने पर राज्य विदेशी उद्योगों के मुक़ाबले में देशी उद्योगों की रक्षा करेगा।

(१३) औषधि कार्यों के लिये छोड़कर नशीले पेय अथवा नशीले द्रव्यों को पूर्णत: बंद कर दिया जायगा।

(१४) करेंसी और मुद्रा-परिवर्तन को राष्ट्रीय हित की दृष्टि से नियमित किया जायगा।

(१५) राज्य मुख्य-मुख्य उद्योगों और नौकरियों—खनिज उद्गमों, रेलवे, नहरों आदि जल-मार्गों, यानों तथा जनता के यातायात के साधनों को या तो स्वयं संचालित करेगा, अथवा उन पर अपना विशेषाधिकार रक्खेगा।

(१६) कृषकों को क़र्ज़ के भार से मुक्त कराने में मदद करना तथा किसी भी प्रकार के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष ब्याज लेने की प्रथा को बंद करना।

(१७) राज्य नागरिकों की सैनिक शिक्षा का प्रबंध करेगा, जिससे नियमित सैनिक फ़ौजों के सिवा राष्ट्रीय रक्षा के लिये एक सैनिक संगठन तैयार किया जा सके।"

इस प्रकार कांग्रेस ने देश के सामने अपने उस प्रस्ताव को प्रस्तुत किया, जिसमें उसने स्पष्ट बता दिया कि 'स्वराज्य' का उसकी दृष्टि में क्या अर्थ है। इसका परिणाम यह हुआ कि वे लोग, जो अब भी कुछ निश्चय न कर सके थे, और जिनकी स्थिति डावाँडोल थी, कांग्रेस के साथ आ गए, और

उसके आदेशों पर चलना प्रारंभ किया, तथा स्वतंत्रता की सेनाएँ द्विगुणित वेग से बढ़ने लगीं।

सविनय अवज्ञा-आंदोलन एक के पश्चात् दूसरा आता गया, जिसके परिणाम-स्वरूप लोगों को बहुत अधिक कष्ट सहना पड़ा। किंतु ये सब कष्ट लोगों ने स्वयं आमंत्रित किए थे, अतएव उनसे शक्ति ही प्राप्त हुई। ये कष्ट उस प्रकार के नहीं थे, जो किसी के तन और मन को तोड़कर व्यक्ति को नैराश्य और पराजयवाद की ओर ले जाते हैं। उस समय भी, जब कि सविनय अवज्ञा-आंदोलन नहीं रहता था, तब भी, लोगों का असहयोगी रुख बना ही रहता था, तथा भारत के ब्रिटिश शासन के प्रति लोगों के शत्रुता-पूर्ण भाव सदैव विद्यमान रहते थे। किसी समय पर भी—कष्टों और भीषण आपत्तियों के समय पर भी—कांग्रेस ब्रिटिश राज्य अथवा विदेशी शक्ति के सम्मुख नत-मस्तक नहीं हुई। यह सदैव भारत की स्वतंत्रता प्राप्त करने की दृढ़ इच्छा तथा विदेशी शक्ति का सामना करने के अटल विश्वास का प्रतीक रही। इस सबका ही यह परिणाम था कि भारतवर्ष की कोटि-कोटि जनता ने तन-मन-धन से कांग्रेस का साथ दिया, और सदैव, कठिनाइयों के समय पर भी, कांग्रेस के नेताओं के आदेशों की प्रतीक्षा की।

प्रांतों में जन-प्रिय सरकारों की स्थापना

बहुत-सी समितियों, सभाओं, वाद-विवादों और प्रतिनिधि-

मंडलों की कई वर्षों की छान-बीन के पश्चात् ब्रिटिश पार्लियामेंट ने, सन् १९३५ में, एक 'गवर्नमेंट ऑफ् इंडिया ऐक्ट' (भारत-सरकार का क़ानून) पास किया। यह क़ानून काफ़ी चालाकियों से परिपूर्ण था। स्पष्टतः इसका उद्देश्य कूटनीतिक था। जब इसने एक सीमा तक प्रांतीय स्वतंत्रता और संघीय शासन की व्यवस्था की, तब साथ-ही-साथ ऐसी बाधाओं, विशेष नियमों आदि को स्थान दिया, जिनके कारण वास्तविक राजनीतिक और आर्थिक सत्ता के अधिकारी ब्रिटिश ही थे। वस्तुतः इसने शासन-कार्यकारिणी के हाथों में और भी अधिक शक्ति दे दी, और यह शासन-कार्यकारिणी ब्रिटिश शासकों के प्रति उत्तरदायी थी। संघीय व्यवस्था तो एक सफ़ेद धोखा था। यह इस प्रकार चालाकी से बनाया गया था कि वास्तव में देश की उन्नति हो सकना पूर्णतः असंभव था, और जनता के नेताओं तथा प्रतिनिधियों के लिये कोई गुंजाइश नहीं रह गई थी कि वे इसमें कुछ दख़लंदाज़ी अथवा कुछ सुधार कर सकें। वे ब्रिटिशों द्वारा संचालित शासन के एक भी आधारभूत सिद्धांत को बदलने की शक्ति न रखते थे। प्रांतों के ब्रिटिश गवर्नरों को बिना किसी रोक-थाम के समस्त सत्ता दे दी गई थी, और प्रांतों के तथाकथित जन-प्रिय मंत्रियों के वश में यह नहीं था कि वे इन निर्बाध तानाशाहों के कार्यों में कुछ कह या सुन सकते, कार्य-संचालन में उनका कोई भी हाथ न रह गया था। इस क़ानून को प्रगतिशील कहना तो दूर की बात

है, यह निश्चित रूप से प्रतिक्रियावादी था, सिद्धांत और व्यावहारिक रूप, दोनों ही दृष्टियों से; तथा इसमें मौलिकता के तो कोई बीज थे ही नहीं। इसके सिवा इस क़ानून से ब्रिटिशों और देशी नरेशों के संबंध और भी अधिक दृढ़ बन गए, जो कि देश-हित के लिये घातक था। ज़मींदारों और प्रतिक्रियावादियों को इससे अधिक शक्तियाँ मिलीं। साथ ही इसने सांप्रदायिक मतगणना को अधिक महत्त्व देकर सांप्रदायिक द्वेष में वृद्धि की। इस क़ानून ने ब्रिटिश व्यापार, बैंक आदि को अधिक-से-अधिक सुविधा दिलाकर उनकी ताक़तों को बढ़ाया, और यह नियम बना दिया कि ब्रिटिशों के व्यापार आदि में किसी भी प्रकार की बाधा न डाली जायगी। इस प्रकार ब्रिटिशों को अधिकाधिक आर्थिक सुविधा दिलाकर इसने भारतीय आर्थिक स्थिति को नष्ट करने का प्रयत्न किया। इसके सिवा, बड़ी चालाकी से इस क़ानून ने भारतीय आर्थिक विभाग, फ़ौज और विदेशी विभाग ब्रिटिशों के ही हाथों में रक्खा, और वायसराय को इतनी अधिक शक्तियाँ दे दीं, जितनी इसके पूर्व उसके पास कभी नहीं थीं।

भारतवर्ष में यद्यपि यह माना जाता था कि भारत के लिये संघीय शासन ही उपयुक्त होगा, किंतु यह जो प्रस्तावित संघीय शासन था, यह वास्तव में ब्रिटिश राज्य को यहाँ क़ायम रखने में सहायक था, तथा भारतीय निहित स्वार्थों के लिये लाभकर था। इन सबको देखते हुए इसका केवल प्रांतीय स्वतंत्रतावाला

भाग ही कार्य-रूप में परिणत किया गया, और देश की तत्कालीन स्थिति को ध्यान में रखते हुए जुलाई, सन् ३७ के प्रथम सप्ताह में कांग्रेस की कार्य-समिति ने वर्धा में एक प्रस्ताव पास किया, जिसके अनुसार धारा-सभाओं के बहुमत के कांग्रेसी दलों को पद-ग्रहण करने का अधिकार और आदेश दिया गया। यह अधिकार देते हुए कांग्रेस ने इस बात को स्पष्ट कर दिया था कि पद-ग्रहण इसलिये किया जाता है, जिससे नए विधान को शक्ति-हीन बनाने और रचनात्मक कार्य-क्रम को पूर्ण करने की कांग्रेस-नीति को अधिक-से-अधिक बढ़ाया जा सके।

राजनीतिक तथा वैधानिक दृष्टि से प्रांतों में जन-प्रिय मंत्रि-मंडलों के स्थापित हो जाने से ब्रिटिश शासन-पद्धति में कोई विशेष अंतर न आया। वास्तविक शक्ति वहीं बनी रही, जहाँ वह पहले थी। किंतु जन-प्रिय नेताओं द्वारा पद-ग्रहण करने से जनता में एक बड़ा मनोवैज्ञानिक असर हुआ, एक विद्युत् की लहर-सी समस्त देश में फैल गई। जब जनता ने देखा कि अभी तक जो व्यक्ति स्वतंत्रता के संग्राम में उसके नेता और साथी थे, और जो लोग जेलों में उसके साथ रहते थे, वे ही अब उत्तरदायित्व-पूर्ण पद पर आसीन कर दिए गए, तब उसके (जनता के) आनंद और उल्लास की सीमा न रही। लोगों में एक सुख और संतोष का वातावरण-सा फैल गया, लोगों ने यह समझ लिया कि जो शक्ति अब तक उनको सताती रही है, अब उसका अंत हो गया है। फलतः बहुत दिनों से जो जन-

शक्ति दबी पड़ी थी, वह अब ऊपर उभर आई थी। पुलिस और नौकरशाही का डर एक क्षण में ही समाप्त हो गया और कुछ समय के लिये निर्धन-से-निर्धन किसान और दुर्बल-से-दुर्बल व्यक्ति ने भी यह अनुभव किया कि वह आत्मनिर्भर है, और उसका एक विशेष आत्मसम्मान है। पहलेपहल उसने यह महसूस किया कि कुछ भी क्यों न हो, किंतु वह भी अपनी आवाज़ उठा सकता है, जिसकी उपेक्षा अब नहीं की जा सकती। अब पहले की तरह उसके लिये सरकार कोई बहुत बड़ी ऐसी चीज़ न रह गई थी, जो उससे बहुत दूर थी, जहाँ तक उसकी पहुँच असंभव थी, और उसे प्रभावित करने की तो वह बात ही न सोच सकता था। सरकार और उसके बीच में सैकड़ों अफ़सर बाधा डालने के लिये न थे। अब वह सरकार न थी, जो उसके जीवन का रक्त चूस लिया करती थी। इन मंत्रिमंडलों से स्पष्टतः ही लोगों की मनोवृत्तियों में एक बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ।

यद्यपि केंद्र में एक ऐसी सरकार स्थापित थी, जो वस्तुतः पूर्ण अनुत्तरदायी तथा कुछ हद तक तानाशाही-पूर्ण थी, भारतीय जनता की कठिन और आवश्यक समस्याओं—निर्धनता, अशिक्षा और अवनति—के प्रति पूर्णतः उदासीन थी, तथा जन-भावनाओं की उपेक्षा करती थी। किंतु प्रांतीय सरकारों ने इसका कुछ भी विचार न करते हुए अपनी शक्तियों को इन समस्याओं के निराकरण की ओर लगाया, और उनमें से कुछ

को निश्चित रूप से हल करना प्रारंभ किया। थोड़े ही समय में कई कृषि-संबंधी सुधार किए गए, और ग्रामीणों के ऋण का मसला हाथ में लिया गया। इसी प्रकार कारखाने में काम करनेवाले मजदूर, जन-स्वास्थ्य तथा स्वच्छता, स्वायत्त शासन-सरकार, प्राथमिक और विश्वविद्यालय की शिक्षा, औद्योगिक एवं विकास-संबंधी कई समस्याओं को समुचित रूप से हल किया गया।

कांग्रेस सरकारों ने देश में सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक क्षेत्रों में जो कार्य किए, उनका देश के ऊपर बहुत कल्याणकर प्रभाव पड़ा। जनता ने यह महसूस किया कि उनका कष्ट, परिश्रम और त्याग निरर्थक नहीं गया। यद्यपि हमारे राजनीतिक जीवन में अब भी साम्राज्यवाद का कीट घुसा हुआ था, किंतु तब भी लोग कुछ-न-कुछ संतुष्ट अवश्य थे, और भविष्य बहुत अधिक आशावान् और प्रकाश-पूर्ण प्रतीत होता था। किंतु संतोष का समय अधिक दिनों तक नहीं चल सका, प्रकाश-पूर्ण भविष्य वस्तुतः बहुत अधिक सन्निकट नहीं था। भारत में स्वराज्य लाने के लिये अभी तो भारत को भीषण कष्टों का सामना करना शेष था। शीघ्र ही भारत के राजनीतिक गगन में काले-काले बादलों का साम्राज्य छाना प्रारंभ हो गया, और यह स्पष्ट विदित हो गया कि भविष्य काफ़ी कष्ट तथा अंधकार-पूर्ण है। इस समय तक प्रांतों में कांग्रेसी सरकारें लगभग २ वर्षों तक योग्यता-पूर्वक शासन-

संचालन कर चुकी थीं, और उन्होंने विश्व को यह दिखा दिया था कि भारतीय अपना शासन स्वयं अच्छी तरह कर सकते हैं।

द्वितीय महायुद्ध

लगभग गत १० वर्षों से कांग्रेस यह संभावना कर रही थी कि शीघ्र ही द्वितीय महायुद्ध होनेवाला है, और देश को चेतावनी दे रही थी कि वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद को सहायता न दे। ब्रिटिश सरकार से यह माँग विशेष रूप से की जा रही थी कि भारत को बिना उसकी स्वीकृति और स्वतंत्र इच्छा के युद्ध में जबरदस्ती न घसीटा जाय, तथा बिना देश के नेताओं की स्वीकृति के भारतीय फ़ौजें लड़ने के लिये विदेशों में न भेजी जायँ। इस अंतिम माँग को केंद्रीय धारा-सभा द्वारा भी ब्रिटिश सरकार के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। स्मरण रहना चाहिए कि केंद्रीय धारा-सभा में विभिन्न मत और दल-वाले व्यक्ति सम्मिलित हैं। बहुत दिनों से जनता की यह शिकायत थी कि भारतीय फ़ौजों को बिना देश के नेताओं की स्वीकृति के प्रायः विदेशों में भेजा जाता है, और प्रायः उनसे उन देशों को विजित अथवा दमन करवाया जाता है, जिनके साथ भारत के संबंध शत्रुता-पूर्ण अथवा द्वेष-पूर्ण नहीं हैं। इस प्रकार पहले भारतीय सेनाओं का ब्रह्मदेश, चीन, ईरान और मध्य-पूर्व में उपयोग किया गया था, भारतीय फ़ौजों को इन देशों में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रतीक समझ

लिया गया था, और स्वभावतः इन देशों की जनता भारत के प्रति द्वेष-पूर्ण हो गई थी। कांग्रेस ने इस युद्ध के संबंध में एक दोहरी नीति अपनाई। एक ओर तो कांग्रेस ने फासिस्टवाद, नाजीवाद और जापानी साम्राज्यवाद का खुलकर विरोध किया, क्योंकि उनकी आंतरिक नीति और दूसरे देशों पर अकारण आक्रमण करने की नीति कांग्रेस के सिद्धांतों के विरुद्ध थी। इन आक्रमणों को रोकने के लिये कांग्रेस सताए हुए देशों की ओर से लड़ने को भी तैयार थी, और दूसरी ओर उसने भारत की पूर्ण स्वतंत्रता पर जोर दिया, न केवल इस-लिये कि वह उसका जन्म-सिद्ध अधिकार था, और उसके लिये वह इतने वर्षों से संघर्ष कर रही थी, प्रत्युत महायुद्ध की दृष्टि से भी उसका एक विशेष महत्त्व था। कांग्रेस ने इस बात पर जोर दिया कि केवल स्वतंत्र भारत ही इस युद्ध में ठीक से भाग ले सकता है, केवल स्वतंत्रता से ही वह ब्रिटिशों के साथ जो पिछले कटु संबंध हैं, उनको भुला सकती और जनता में एक नया उत्साह पैदा कर सकती है, तथा अपने समस्त साधनों और शक्ति को एकत्र कर सकती है। कांग्रेस को यह पूर्णतः अविचार-पूर्ण, अविश्वसनीय और असंभव मालूम पड़ा कि जिस ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध वह अब तक संघर्ष करती रही है, अब उसी की रक्षा के लिये वह युद्ध में सम्मिलित हो।

किंतु कांग्रेस की घोषणाओं का ब्रिटिश सरकार पर कोई

असर न पड़ा, और जो कुछ भारतीयों ने कहा, उस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। भारतीय जनता की निश्चित इच्छा के विरुद्ध भारतीय फ़ौजों को मिस्र देश और सिंगापुर भेजा गया। इससे यह पूर्णतः स्पष्ट हो गया कि ब्रिटिश सरकार जान-बूझकर और अविचार-पूर्वक कांग्रेस और केंद्रीय धारा-सभा की भावनाओं का अपमान कर रही थी, और ऐसे कार्य कर रही थी, जिससे भारत को युद्ध में बाध्य होकर सम्मिलित होना पड़े। जनप्रिय मंत्रिमंडलों को एक मज़ाक़-सा बना दिया गया। भारत के युद्ध में सम्मिलित होने के संबंध में उनसे किसी भी प्रकार की राय नहीं ली गई। ब्रिटिश सरकार की इस अनुचित और बेशर्मी-पूर्ण नीति के विरोध में कांग्रेस-कार्यकारिणी समिति ने केंद्रीय असेंबली के सभी सदस्यों को आदेश दिया कि वे धारा-सभा के आगामी अधि-वेशन में सम्मिलित न हों, तथा प्रांतीय मंत्रिमंडलों को चेता-वनी दी कि वे किसी भी तरह ब्रिटेन की लड़ाई की तैयारियों में कोई भी सहायता न दें, चाहे उन्हें ऐसा करने में त्याग-पत्र ही क्यों न दे देने पड़ें।

अंत में, एक दीर्घकाल से जिस युद्ध की संभावना की जाती थी, वह १ सितंबर, सन् १९३९ को प्रारंभ हो गया, और ३ सितंबर को ब्रिटिश सरकार ने घोषित कर दिया कि भारत भी इस युद्ध में सम्मिलित है। इस प्रकार हमारे देश को बल-पूर्वक युद्ध में घसीट लिया गया, और भारत को बाध्य

होकर युद्ध में सहायता देनी पड़ी। देश की स्वतंत्रता का प्रश्न पीछे ढकेल दिया गया। भारत के समस्त साधनों और जन-शक्ति को उसी ब्रिटेन की सहायता के लिये उपयोग में लाया जाने लगा, जिसने भारत को पराधीनता में रखकर इतने वर्षों तक उसका शोषण किया था।

ब्रिटिश सरकार के इस अपमान-जनक व्यवहार ने एक गंभीर परिस्थिति पैदा कर दी। संपूर्ण देश में नैराश्य और कटुता की भावना व्याप्त हो गई। इस समय कांग्रेसी सरकारों की एक विचित्र दुविधा-पूर्ण स्थिति हो गई थी। इस समय कांग्रेस के सम्मुख केवल एक मार्ग था—वह था असहयोग का मार्ग। परिणामतः कांग्रेस-कार्य-समिति ने अंत में सभी कांग्रेसी सरकारों को आदेश दिया कि वे पद-त्याग कर दें।

कांग्रेस-हाईकमांड के आदेश पर सभी कांग्रेस-मंत्रिमंडलों ने एक साथ त्याग-पत्र दे दिए। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार के अविचार-पूर्ण और अपमान-जनक कार्य के परि-णाम-स्वरूप एक दिन में वह वैधानिक संघटन टूट गया, जिसका निर्माण वर्षों के परिश्रम, कष्ट और वाद-विवादों तथा संधियों के पश्चात् किया गया था। क्या कांग्रेस अब पुनः इस टूटे भवन का निर्माण कर सकती थी? क्या यह पुनः शासन-भार ग्रहण करके शक्ति प्राप्त कर सकती थी? साधा-रण जनता में से कोई भी पूर्ण निश्चय और विश्वास के साथ इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता था। वातावरण अंधकार-

पूर्ण प्रतीत होता था, और आगामी कार्य-क्रम क्या होगा, इसके बारे में तरह-तरह के संदेह और डर प्रकट किए जा रहे थे। किंतु भारत के कर्णधारों और पुराने नेताओं ने निराशा को हृदय में स्थान नहीं दिया। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि वे फिर प्रारंभ से प्रयत्न करेंगे, और इस बार पहले से भी अच्छे और महान् तथा सुदृढ़ भवन का निर्माण करेंगे। वे बड़े ध्यान और तीक्ष्ण बुद्धि से घटना-क्रम का अध्ययन कर रहे थे, और उस उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में थे, जब कि वे अपना निश्चित कार्य-क्रम प्रारंभ कर दें।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों युद्ध का दानव विकराल रूप धारण करता गया, और उसके पंजे दूर-दूर तक फैलते गए। इससे ब्रिटिश शासकों के हृदयों में भारत के प्रति कोई भी शुभ परिवर्तन न हुए, वरन् वे और भी अधिक कठोर और कटु बन गए, इतना अधिक कि उनका रुख किसी भी प्रकार समझ में न आता था। यह भी स्पष्ट था कि कांग्रेस यदि इस समय किसी भी प्रकार के आंदोलन का आश्रय लेगी, तो उसका दमन भीषण निर्दयता-पूर्वक किया जायगा। किंतु ब्रिटिशों के इस अपमान-जनक और भारत-विरोधी रुख को देखते हुए इस सबको निष्क्रिय रूप से देखते रहना भी कांग्रेस के लिये असंभव हो गया था। यदि भारतवर्ष को ब्रिटिश इस प्रकार लूटते रहते, उसका अपने साम्राज्यवादी युद्ध की सहायता के लिये मनमाना उपयोग करते, और

कांग्रेस यदि उसका विरोध न करती, तो यह समस्त देश के लिये अत्यंत लज्जा की बात होती, इतिहास का यह एक अमिट दाग होता। देश के नेताओं ने सही तौर पर समझ लिया कि इस समय कुछ न करना सबसे बड़ी गलती होगी। संक्षिप्त में, कुछ करना अनिवार्य हो गया था। यह भी आवश्यक था कि जो भी कार्य किया जाय, वह कांग्रेस की नीति और उसके अहिंसात्मक सिद्धांतों के अनुरूप ही हो। अधिक-से-अधिक सविनय अवज्ञा-भंग-आंदोलन ही अपेक्षित था। आंदोलन में कोई ऐसी अशांति आदि न हो, जिससे रक्तपात होने की संभावना हो, अतएव १६४० में जो सविनय अवज्ञा-आंदोलन आरंभ किया गया, वह कुछ चुने हुए व्यक्तियों तक ही सीमित कर दिया गया। यह आंदोलन ७ ऑक्टोबर, सन् १६४० को एक बड़े मौलिक तरीके से प्रारंभ हुआ। इसमें भाग लेनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को कुछ विशेष शर्तों को पूरा करना पड़ता था, तथा पहले कांग्रेस से आज्ञा लेनी पड़ती थी। पहले बड़े-बड़े अधिकारी व्यक्तियों ने आंदोलन में भाग लिया, और जेल गए, वे थे कांग्रेस-कार्यकारिणी के सदस्य, प्रांतीय मंत्रिमंडलों के मंत्रीगण आदि। इसके पश्चात् अन्य कांग्रेस-जन जेल गए, और जेल जानेवालों की संख्या ३०,००० तक पहुँच गई। इनमें प्रांतीय धारा-सभाओं के अध्यक्ष और उनके कांग्रेसी सदस्य थे। ब्रिटिश सरकार ने सभी प्रांतीय धारा-सभाओं को भंग

कर दिया था। इस प्रकार कांग्रेस ने यह स्पष्ट प्रदर्शित कर दिया कि यदि जन-प्रिय धारा-सभाओं को इच्छानुसार कार्य न करने दिया गया, तो भी वे ब्रिटिश सरकार के सम्मुख नत-मस्तक न होंगी, और सदस्य इस प्रकार कार्य करने की अपेक्षा जेल जाना पसंद करेंगे।

जिन लोगों ने आंदोलन में भाग लिया था, उनके सिवा भी सहस्रों ऐसे लोग थे, जिन्हें भाषण देने के अपराध में या ऐसे ही किसी अन्य अपराध में बिना मुक़द्दमे के जेल में डाल दिया गया था। पंडित जवाहरलाल नेहरू को ७ नवंबर को आंदोलन में भाग लेना था, किंतु इसके पूर्व ही उन्हें गोरखपुर में भाषण देने के अपराध में गिरफ्तार करके ४ वर्ष की कड़ी सजा देकर जेल भेज दिया गया था।

ऑक्टोबर, सन् १९४० से सभी गिरफ्तार व्यक्तियों को लगभग १ वर्ष तक जेल में रक्खा गया। दिसंबर के महीने में पंडित जवाहरलाल नेहरू को तथा कई बंदियों को जेल से मुक्त कर दिया गया।

पाकिस्तान का शैतान

जिस समय कांग्रेस ब्रिटिश साम्राज्यशाही के विरुद्ध यह जीवन और मृत्यु का संघर्ष कर रही थी, उस समय मुहम्मद-अली जिन्ना के विषैले मस्तिष्क से एक योजना निकली, यह दूषित योजना भारत के विभाजन की थी। २३ मार्च, १९४० में होनेवाले मुसलिम लीग के लाहौर-अधिवेशन में 'पाकिस्तान-

प्रस्ताव' पास किया गया, जिसमें भारतवर्ष में एक अलग सर्वोच्च सत्तावाले मुसलिम राष्ट्र की स्थापना की माँग की गई। इस राष्ट्र में उन सभी प्रांतों को शामिल करने की माँग की गई, जिनमें मुसलमानों का बहुमत है। मुसलिम लीग को १९०६ में ब्रिटिशों की संरक्षता में स्थापित किया गया था। ब्रिटिशों ने इसके विकास में इसलिये विशेष रुचि दिखाई थी कि वह मुसलमानों को राष्ट्रीय कांग्रेस से अलग रक्खे। और, यह मुसलिम लीग सदैव कुछ थोड़े-से उच्चवर्गीय नवाबों, जमींदारों के नेतृत्व में रही। चूँकि उसके सम्मुख कोई निश्चित आर्थिक और राजनीतिक कार्य-क्रम न था, अतएव मुसलिम जनता पर उसका कोई असर न था। जनाब जिन्ना साहब उस पीढ़ी के व्यक्ति थे, जो १७वीं शताब्दी के राजनीतिक सिद्धांतों से प्रभावित थी, और वह आधुनिक राजनीतिक विचारों और विकासों से शायद ही परिचित थे। इस जन्मजात प्रतिक्रियावादी ने उस समय कांग्रेस को त्याग दिया, जब कि वह एक क्रांतिकारी संस्था में परिणत हो गई, और जनाब जिन्ना ने एक राजनीतिक पलटा खाया। १९३० में, मुसलिम लीग का नेतृत्व ग्रहण करने के पश्चात्, ब्रिटिश साम्राज्यशाही का यह परम मित्र कट्टर सांप्रदायिक नेता के रूप में प्रकट हुआ। ब्रिटिश सरकार और नौकरशाही की सहायता से जिन्ना ने सांप्रदायिक विद्वेष को अधिकाधिक बढ़ाने और हिंदू-मुसलिम वैमनस्य को गुरुतर बनाने के लिये सभी

उचित-अनुचित उपायों का दुरुपयोग किया। चूँकि जिन्ना में जन-नेता होने के कोई गुण विद्यमान न थे, अतएव लीग एक जन-आंदोलन बनने में असमर्थ रही। १९३७ में होने-वाले निर्वाचनों ने यह सिद्ध कर दिया कि लीग का प्रभाव मुसलिम जनता में बहुत ही कम है। लीग केवल बंगाल में ही थोड़े-से बहुमत के द्वारा मंत्रिमंडल-निर्माण कर सकी, जब कि अन्य मुसलिम बहुमतवाले प्रांतों में—पंजाब, सिंध और सीमा-प्रांत में—यूनियन, मिश्रित और कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने। १९३७ के निर्वाचनों की हार से जिन्ना को बहुत बड़ा धक्का लगा, और उन्होंने अपनी समस्त चतुरता और शक्ति यह सोचने में लगाई कि किस विधि से मुसलिम जनता को प्रभावित किया जाय। अतएव जिन्ना ने लीग के सम्मुख पाकिस्तान का प्रस्ताव रक्खा। वास्तव में यह प्रस्ताव मुसलिम जनता को प्रभावित करने के लिये ही रक्खा गया था, जिससे मुसलिम जनता यह समझे कि लीग के सामने एक बहुत बड़ा उद्देश्य है, और लीग समस्त मुसलमानों के लिये एक बहुत बड़ा काम कर रही है, एक नए राष्ट्र का निर्माण कर रही है। पाकिस्तान का जो मूल प्रस्ताव था, वह इतना अस्पष्ट और समझ से परे था कि मुसलिम जनता ने इसे कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया। इसमें शक नहीं कि इस प्रस्ताव से लीग के अर्ध-शिक्षित भाग में अवश्य कुछ उत्तेजना और तहलका-सा फैला, किंतु वे लोग भी इसे ठीक से न समझ सकते थे। यह साफ़ है कि

जनाब जिन्ना के इस प्रस्ताव को यदि ब्रिटिश शासकों का समर्थन और सहायता न प्राप्त होती, तो एक सप्ताह के अंदर ही सारी योजना खत्म हो गई होती। ब्रिटिश समाचार-पत्रों में पाकिस्तान-प्रस्ताव का अत्यधिक प्रचार किया गया, और ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने इसको बहुत ही अधिक महत्त्व देकर इसका प्रचार किया। सन् १९०६ में ब्रिटिश सरकार ने जो भिन्न सांप्रदायिक चुनावों की योजना रक्खी थी, वस्तुतः पाकिस्तान का प्रस्ताव उसका अंतिम परिणाम था, जिसके अनुसार भारत का विभाजन प्रस्तावित किया गया था। स्पष्टतः यह भारत में ब्रिटिशों की नीति 'फूट डालो, और राज्य करो' का अंतिम विकास था। इस प्रस्ताव के पश्चात् लीग और भी अधिक हठधर्मी करने लगी तथा उसका रुख आक्रमण-पूर्ण हो गया, साथ ही ब्रिटिशों ने शान के साथ इस देश पर शासन करने के औचित्य को इस आधार पर ठहराया कि भारत के बड़े-बड़े राजनीतिक दलों में आपस में मत-भेद है।

ब्रिटिश टोरियों की धोखेबाजी की नीति

११ मार्च, सन् १९४२ को ब्रिटेन के तत्कालीन प्रधान मंत्री विंस्टन चर्चिल ने ब्रिटिश पार्लियामेंट के हाउस ऑफ् कॉमंस में एक घोषणा की, जिसमें यह कहा गया कि शीघ्र ही कतिपय प्रस्तावों के साथ सर स्टैफ़ोर्ड क्रिप्स को भारत की वैधानिक अड़चन सुलझाने के लिये भारत भेजा जायगा।

२२ मार्च को सर स्टैफ़ोर्ड क्रिप्स नई दिल्ली आ गए, और दो दिन के भीतर ही कांग्रेस-नेताओं को उन प्रस्तावों से अवगत करा दिया गया। क्रिप्स-प्रस्ताव पूर्णतः निरर्थक और वस्तुतः समझौते का उपहास करनेवाले थे। प्रस्तावों को इस प्रकार बनाया गया था कि उनमें कई उपहास-जनक शर्तें और अड़चनें थीं। उनसे यह स्पष्ट विदित हो गया कि टोरी-नेता चर्चिल और उनके पिछलग्गू समझौते की कोई चिंता नहीं करते। उनके दिमाग़ अभी पिछली विचार-धाराओं में ही फँसे थे, और वे सच्चे हृदय से भारतीय समस्या के निराकरण की चिंता न करते थे। इन प्रस्तावों में स्वतंत्रता तो नाम-मात्र के लिये भी न थी, बल्कि उनसे संघर्ष और फूट के नए बीज पड़ते थे। ज़ाहिर है कि इस प्रकार के प्रस्तावों को देश कभी स्वीकार नहीं कर सकता था, अतएव उनको समस्त देश ने पूर्णतः ठुकरा दिया।

टोरियों ने इन प्रस्तावों से यह फ़ायदा उठाया कि उन्होंने इन प्रस्तावों को केंद्र बनाकर कुछ समय तक भारत के विरुद्ध ख़ूब प्रचार किया। सर स्टैफ़ोर्ड क्रिप्स ने अपनी असफलता के पश्चात् तरह-तरह के असत्यों और अर्धसत्यों का आश्रय लिया, बिना किसी लज्जा के लोगों के सम्मुख प्रस्तावों को ग़लत ढंग पर रक्खा, और कांग्रेस के नेताओं पर नीच और द्वेष-पूर्ण आरोप लगाए। इसका परिणाम यह हुआ कि

जो लोग पहले उनके मित्र थे, वे ही अब शत्रु बन गए। उन्हीं असत्यों और अर्धसत्यों को ग्रहण करके राजनीतिज्ञों, पत्रकारों और प्रचारकों ने भारत-विरोधी प्रचार करना प्रारंभ कर दिया, और अटलांटिक से लेकर पेसिफिक तक तथा ह्वाइट हाल से लेकर ह्वाइट हाउस तक अपना प्रचार किया। 'राजनीतिज्ञों ने इसकी नक़ल की, पादरियों और महापादरियों ने इसको गंभीर रूप देकर अपनी प्रार्थनाओं में पेश किया, तथा उपदेशकों ने इसे निश्चित सत्य बताकर उपदेश दिया।' किंतु यह स्पष्ट है कि सर स्टैफ़ोर्ड क्रिप्स ने जिस नाटकीय ढंग से प्रस्तावों को रक्खा, जिस तरीक़े से वार्ताओं को चलाया गया, तथा जो धोखेबाज़ी करने का प्रयत्न किया गया, उससे यह विश्वास होता है कि यह सब टोरियों की पूर्व-नियोजित योजना थी, जो काफ़ी अध्ययन और सोच-समझकर भारत को केवल धोखा देने के उद्देश्य से बनाई गई थी। इसके मुख्यतः तीन उद्देश्य थे—पहला, विश्व भारतीय स्वतंत्रता की माँग के प्रति विशेष आकर्षित हो रहा था, अतः इसके द्वारा संसार को धोखे में डालना; दूसरा, भारतीयों को फिर निराश करके उनके संघटन और शक्ति को निर्बल बनाना; तीसरा, एक ऐसा कारण और मौक़ा पैदा करना, जिसके आधार पर भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम की शक्तियों को भीषण हिंसात्मक दमन से नष्ट-विनष्ट किया जा सके। आगे आनेवाली घटनाओं ने इसे सत्य सिद्ध कर दिया।

महान् क्रांतिकारी आंदोलन

क्रिप्स-प्रस्तावों और समझौते की एकाएक समाप्ति से और ब्रिटिश पार्लियामेंट तथा दूसरे स्थानों पर ब्रिटिश अधिकारियों के वक्तव्यों से इसमें कोई संदेह नहीं रह गया कि चर्चिल का ब्रिटेन किसी भी तरह भारतीय स्वतन्त्रता के प्रश्न पर ध्यान देने के लिये प्रस्तुत नहीं है। दूसरी ओर भारत में नागरिक अधिकारों की हत्या हो चुकी थी, और वह अब भी पूर्ववत् जारी थी। क्रिप्स-समझौते की वार्ता के समय बहुत-से कांग्रेसी नेता जेल में थे, और वार्ता असफल होने के पश्चात् से कई कांग्रेसी नेताओं को एक या दूसरे बहाने से जेल में डाला जा रहा था। युद्ध-प्रयत्नों और भारत-रक्षा-क़ानून का उपयोग जान-बूझकर कांग्रेस के विरुद्ध किया जा रहा था, और ऐसा ज्ञात होता था कि सरकार इस पर तुल गई है कि स्वतंत्रता के लिये संग्राम करनेवाली शक्तियों की हत्या कर दी जाय। क्या कांग्रेस इस आक्रमण के सम्मुख निष्क्रिय होकर चुपचाप सिर झुका लेती? कभी नहीं। देश-भक्त कांग्रेसी नेताओं को इस प्रकार की शिक्षा नहीं मिली थी, उनका राष्ट्रीय और व्यक्तिगत गौरव ब्रिटिश सरकार के इस आक्रमण को सहन नहीं कर सकता था, और वे अपने को विदेशी सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने से रोक नहीं सकते थे।

शीघ्र ही घटनाएँ तेज़ी से बढ़ने लगीं, और देश के तार-तार में विद्युत् की-सी शक्ति आ गई। देश निष्क्रियता के गड्ढे

से निकलकर उत्तेजना और आशावाद के मार्ग पर आ गया था। गांधीजी और नेहरू ने जनता के मनोभावों को समझ लिया था। जनता इस समय अत्यंत ही उत्तेजित और क्रोधित थी। उसे परिणामों की कोई भी परवा न थी। वह अब क्रांति सागर में डूब जाना पसंद करती थी, किंतु ब्रिटिशों के द्वेष और अपमान-पूर्ण शासन में नहीं रह सकती थी। वह अब ब्रिटिश साम्राज्यवाद का शिकार नहीं बन सकती थी।

८ अगस्त, सन् १९४२ को अखिल भारतीय कांग्रेस-महासमिति ने बंबई में अपने प्रसिद्ध 'भारत छोड़ो'-प्रस्ताव को पास किया। उस प्रस्ताव में बहुत विस्तार और शांति के साथ यह तर्क पेश किया गया था कि भारत की स्वतंत्रता की माँग को तुरंत ही मान लिया जाना चाहिए, और देश में ब्रिटिश राज्य की समाप्ति हो जानी चाहिए। चीन, रूस और यहाँ तक कि ब्रिटेन के युद्ध-उद्देश्यों के साथ सहानुभूति प्रकट करते हुए प्रस्ताव में बिलकुल स्पष्ट और निश्चित शब्दों में कहा गया कि भारत की स्वतंत्रता से दुनिया-भर में शांति-स्थापन में सहायता होगी। साथ ही प्रस्ताव में यह भी कह दिया गया था कि कांग्रेस इसे उचित नहीं समझती कि अब अधिक समय तक देश को एक विदेशी और तानाशाही सत्ता के विरुद्ध न्यायोचित विद्रोह करने से रोका जाय—एक ऐसी सत्ता के विरुद्ध, जो स्वतंत्रता-पूर्वक अपने तथा समस्त मानवता के हित का कार्य करने में बाधा डालती है। कांग्रेस ऐसे विद्रोह

को रोकने का कोई अधिकार नहीं रखती। अतएव प्रस्ताव में स्वीकार किया गया कि भारत की सम्मान-रक्षा तथा विदेशी सत्ता से अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये अहिंसात्मक ढंग पर एक जन-आंदोलन छेड़ा जाय, जिसका अनिवार्य नेतृत्व गांधीजी के हाथों में हो।

कांग्रेस-महासमिति की बैठक में, अंतिम भाषणों में, महात्मा गांधी और अध्यक्ष मौलाना अबुलकलाम आज़ाद ने यह स्पष्ट बता दिया था कि किसी भी आंदोलन को प्रारंभ करने के पूर्व वे वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो से मिलेंगे, तथा मुख्य-मुख्य मित्र राष्ट्रों के अध्यक्षों से प्रार्थना करेंगे कि वे भारतीय झगड़े को एक सम्मान-पूर्ण रीति से सुलझाने में सहायता करें, जिससे भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति के साथ ही नाज़ियों के विरुद्ध युद्ध-प्रयत्नों में बहुत बड़ी सहायता मिलेगी।

किंतु कट्टर टोरी-एजेंट, तत्कालीन वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो ने कांग्रेस को वह अवसर न दिया, जिससे वह सम्मान-पूर्ण समझौते के लिये एक बार अंतिम प्रयत्न कर सके। सरकार ने कांग्रेस को पूर्णतः नष्ट-विनष्ट कर देने के लिये काफ़ी बड़े पैमाने में पुलिस और फ़ौज का प्रबंध कर लिया था। और, ९ अगस्त को प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व सभी मुख्य-मुख्य कांग्रेसी नेताओं को बंबई में गिरफ़्तार कर लिया गया (जब पुलिस पंडित जवाहरलाल को गिरफ़्तार करने आई, तो उन्होंने अपनी मनोरंजक ध्वनि में कहा—"लो, वे आ

गए।")। उसी दिन प्रातःकाल समस्त देश में जाने कितनी गिरफ्तारियाँ हुईं। एकाएक सभी लोगों को जनता के बीच से हटा लिया गया, अतएव जनता का नेतृत्व करने के लिये कोई भी नेता शेष नहीं रह गया। किंतु बाद में जो घटनाएँ हुईं, उन्होंने यह दिखा दिया कि गांधी और नेहरू के परिश्रम एवं प्रयत्नों का फल अकारथ नहीं गया। जनता के बीच एक स्वस्थ वातावरण और राजनीतिक चेतना का जागरण हो चुका था। लोग अच्छी तरह जानते थे कि परिस्थिति का सामना किस प्रकार करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य अपना स्वयं नेता बन गया, और जनता ने बिना किसी क आदेशों के अपना कर्तव्य किया। देश के नेताओं की गिरफ्तारी में विरोध प्रदर्शित करने के लिये देश-भर में प्रदर्शन हुए, हड़तालें हुईं, दूकानें और बाजारें बंद हो गईं, सभी मिलों और कारखानों में एक साथ हड़ताल हो गई, तथा विद्यार्थियों ने अपने स्कूलों और कॉलेजों को बंद रक्खा। समस्त देश में ब्रिटिश सरकार के कार्य की भीषण प्रतिक्रिया हुई, और जनता सभी प्रकार के परिणामों के लिये पूर्णतः प्रस्तुत थी। प्रारंभ में जनता के सभी कार्य शांति-पूर्ण तथा अहिंसात्मक थे। परंतु गोरी नौकरशाही के पाशविक दमन और निर्दयता से जनता में और भी अधिक उत्तेजना फैल गई। सभी प्रदर्शनों को निर्दयता-पूर्वक भंग किया गया, और जुलूसों पर गोलियाँ बरसाई गईं। जनता की भावनाओं को दबाने के लिये बड़ी-से-बड़ी

हिंसात्मक शक्ति का उपयोग किया गया। अंत में अत्याचार से पीड़ित जनता के धैर्य और शांति अथवा सहन-शक्ति का बाँध टूट गया, वह क्रोध से पागल हो गई, उसकी दबी हुई भावनाएँ उभर उठीं, और वह 'खुली बगावत' करने लगी। उत्तेजित भीड़ नगरों और ग्रामों में जमा हुई, और पुलिस तथा फ़ौज के साथ उनका खुला संघर्ष हुआ। उसने ब्रिटिश साम्राज्यवाद को भारत से जड़ से उखाड़ देने का प्रयत्न किया। उसने उन स्थानों पर हमला किया, जो उसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रतीक ज्ञात हुए—पुलिस-थानों, पोस्ट-ऑफ़िसों और रेलवे-स्टेशनों पर उसने हमले किए। ब्रिटिश शासन को कुंठित कर देने के उद्देश्य से उसने टेलीफ़ोन आदि के तारों को काटना प्रारंभ किया। विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों ने और अन्य देश-भक्तों ने ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध लड़ी जानेवाली स्वतंत्रता की इस अंतिम लड़ाई में बहुत बड़ा भाग लिया। भारतीय स्वतंत्रता के उन बहादुर सैनिकों ने—जो निःशस्त्र थे, बिना नेता के थे, किंतु जागरूक थे—६०० बार* से अधिक फ़ौज की गोलियों का और इसी प्रकार कई बार मशीनगनों का भी सामना किया।

---

* सरकारी घोषणा के अनुसार गोली-बारी ५३८ बार हुई। किंतु यह ब्रिटिश परिपाटी के अनुसार बहुत घटाकर बताया गया है। गैर सरकारी जाँच से यह विदित हुआ है कि गोली-कांड ६०० बार से भी अधिक मौकों पर हुआ है।

किंतु तब भी जनता ने हार मानकर आत्मसमर्पण नहीं किया। यद्यपि भारतीय देश-भक्त निःशस्त्र और असंघटित थे, तथा ब्रिटिश फ़ौज के साथ उनकी कोई भी तुलना नहीं की जा सकती थी, किंतु उन्होंने ब्रिटिशों के साथ अंत तक लड़ने का निश्चय कर लिया था। ब्रिटिश नौकरशाही को आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ा, जब तीन प्रांतों में—युक्त प्रांत में बलिया, महाराष्ट्र में सतारा और बंगाल में मिदनापुर में—ब्रिटिश राज्य का क़रीब-क़रीब ख़ात्मा कर दिया गया था, और वहाँ कई सप्ताहों के पश्चात् बाहर से फ़ौज बुलाकर उसकी सहायता से ही पुनः शासन स्थापित किया जा सका था। उस समय ब्रिटिश फ़ौज और पुलिस ने जो दमन, अत्याचार और पाशविकता-पूर्ण कार्य किए, उनकी मिसाल विश्व की क्रूर-से-क्रूर जातियों के इतिहास में भी न मिल सकेगी। यह ब्रिटिशों के सबसे पहले के अत्याचारों को पार कर गया था। प्रांतों के गवर्नरों ने, जैसे युक्त प्रांत के सर मारिस हैलेट ने, चंगेज़ख़ाँ और तैमूर लंग के भी कान काट लिए थे। सभी प्रांतों में, विशेष कर युक्त प्रांत में सरकारी दमन पूर्ण क्रूरता के साथ अपना जघन्य कार्य कर रहा था। युक्त प्रांत काफ़ी समय से कांग्रेस का केंद्र रहा था। यहाँ लूट, अग्नि-कांड, हत्या, बलात्कार आदि पाशविक कार्य साधारण कार्य हो गए थे, और कुछ बड़े-बड़े अधिकारी भी इन भीषण अपराधों के दोषी थे। नागरिक शासन की जगह पुलिस और

फ़ौजी राज्य क़ायम हो गया, और साम्राज्यवाद के शैतान ने अपने गंदे पंजों को पूरी तरह फैला दिया। आज़मगढ़ की हत्याएँ, बलिया के अत्याचार और पाशविकता-पूर्ण कार्य तथा समस्त देश में हज़ारों निःशस्त्र देश-भक्तों का क़त्लेआम इतिहास के पन्नों में सदैव काले अक्षरों में, अमिट स्याही में अंकित रहेगा। ब्रिटिश जाति और ब्रिटेन इसे पढ़कर तथा स्मरण करके सदैव अपना सिर शर्म से नीचे झुका लिया करेगा।

भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास में अगस्त-क्रांति एक बहुत बड़ा अध्याय है, उसका सदैव एक महान् महत्त्व बना रहेगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस क्रांति से सहस्रों जानें गईं, लोगों को अवर्णनीय कष्टों और यातनाओं का सामना करना पड़ा, किंतु इसने ब्रिटिश साम्राज्य की नींव हिला दी, ब्रिटिश शासन पर निश्चित ही एक घातक प्रहार किया, और इस प्रकार स्वतन्त्रता का दिवस अधिक सन्निकट आ गया। लोगों को, जनता को चाहे जितना त्याग करना पड़ा हो—और ऐसी क्रांतियों में महान् त्याग की आवश्यकता पड़ती ही है—किंतु यह देश के लिये महान् और कल्याण-कारी सिद्ध हुआ, और देश को स्वतंत्रता दिलवाने में सहायक सिद्ध हुआ। ऐसा ज्ञात होता है कि इसमें कुछ ईश्वरीय विधान था, क्योंकि कौन जानता था कि जिस अगस्त-मास में शहरों को ध्वंस-विध्वंस कर दिया गया था, सहस्रों नागरिकों

को ब्रिटिश पाशविकता का शिकार होना पड़ा, उसी अगस्त-मास से एक नवीन युग का प्रारंभ होगा, शहरों में दीपावली मनाई जायगी, और त्रस्त तथा शोषित जनता एक बार फिर अपनी पूरी शक्ति और शान के साथ उठ खड़ी होगी।

पाँचवाँ अध्याय

अंतिम चरण

नवीन संधि-वार्ता

मई, सन् १९४४ के प्रारंभ में महात्मा गांधी को स्वास्थ्य खराब होने के कारण जेल से छोड़ दिया गया। किंतु कांग्रेस-कार्यकारिणी के सदस्यों को १५ जून, सन् १९४५ में जेल-मुक्त किया गया। लॉर्ड लिनलिथगो की जगह अॉक्टोबर, सन् १९४३ में वायसराय-पद पर लॉर्ड वेवेल आ गए थे। १४ जून को इन्होंने नेताओं की रिहाई की घोषणा की थी।

उसी दिन (१४ जून को) लॉर्ड वेवेल ने भारतीय जनता के लिये रेडियो से एक भाषण दिया, और उसी समय, लग-भग उसी विषय पर, भारत-मंत्री श्रीएमरी ने ब्रिटिश पार्लिया-मेंट के हाउस ऑफ् कामंस में एक वक्तव्य दिया। दोनो ही भाषणों में बड़े-बड़े विचार व्यक्त किए गए थे, ऊँची-ऊँची भावनाओं को स्थान दिया गया था, और उनसे यह प्रकट होता था कि ब्रिटिश सरकार भारत के ६ वर्ष पुराने गतिरोध को भंग करने के लिये उत्सुक है। इसके बाद आवश्यक था कि देश के विभिन्न दलों के प्रतिनिधियों को वायसराय द्वारा

बुलाया जाता, और उनसे ऐसी नामावली की सूची ली जाती, जो वायसराय की कार्यकारिणी के सदस्य होने के योग्य थे। यदि सब मिलकर एक मत से इन नामों का सुझाव न कर सकते, तो फिर उनसे अलग-अलग नाम माँगे जाते।

यद्यपि लॉर्ड वेवेल ने रेडियो द्वारा जिस प्रस्ताव को देश के सामने रक्खा, वह किसी भी दशा में स्वतंत्रता का प्रस्ताव नहीं था, क्योंकि शासन-संचालन का कार्य अब भी १६१६ के क़ानून के ही अंतर्गत होता था, तब भी भारत के इन ६ वर्षों के कष्टों को देखते हुए और जनता की निर्धनता का विचार करते हुए कांग्रेस ने उपयुक्त समझा कि प्रस्तावों को मानकर देश का गतिरोध हटाया जाय। भारतवर्ष में इन वर्षों में ब्रिटिश साम्राज्यवाद और नौकरशाही के प्रति घृणा तथा कटुता बढ़कर उच्चतम स्थिति पर पहुँच चुकी थी। लोगों को ब्रिटिश अधिकारियों की सत्यता और ईमानदारी पर संदेह था। किंतु तब भी कांग्रेस-नेताओं की जेल-मुक्ति तथा वायसराय की घोषणा से देश-भर में आशावाद की लहर फैल गई, और प्रथम सम्मेलन में ही वायसराय ने कुछ ऐसा बुद्धिमत्ता-पूर्ण कार्य किया, जिससे लोगों ने समझा कि इतिहास अब अपनी पुनरावृत्ति न करेगा, और वेवेल-योजना का वही भाग्य न होगा, जो क्रिप्स-योजना का हुआ।

वेवेल आए, वह बोले, उन्होंने प्रस्ताव रक्खे, किंतु वह भी अंततः उसी पथ के अनुगामी हुए, जिसे उनके

अँगरेजों ने स्वीकार किया था। वेवेल ने खोदा पहाड़, लेकिन इतने परिश्रम के पश्चात् उससे निकली केवल एक चुहिया, वही फल निकला, जो पहले क्रिप्स और लिनलिथगो के कार्यों का निकला था। वेवेल ने भी उसी टेढ़े-मेढ़े रास्ते को चुना, जिसे १६४२ में सर क्रिप्स ने चुना था। वेवेल ने भी टोरियों की वही नीति अपनाई, जो वे भारत में लगभग ५० वर्षों से चला रहे थे। वेवेल ने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि उनके इरादे पूर्णतः ईमानदारी-पूर्ण हैं, और ब्रिटिशों का हृदय परिवर्तित हो चुका है। किंतु अंत में उन्होंने विशेषाधिकार उसी मुसलिम लीग के हाथ में रख दिया, जिसे टोरियों ने इतने वर्षों में भारतीय स्वतंत्रता की शक्तियों के मुक़ाबले में खड़ा किया था। एक महीने की मस्तिष्क को थका देनेवाली कार्यवाहियों के पश्चात् अंत में १४ जुलाई, १६४५ को वायसराय ने बिना किसी हिचक के घोषित किया कि 'शिमला-सम्मेलन' असफल हो गया।

१४ जुलाई से २५ अगस्त तक का समय यद्यपि थोड़ा ही समय था, किंतु जो लोग भारत में स्वस्थ और शांति-पूर्ण वातावरण देखना चाहते थे, उनके लिये यह समय एक दीर्घकाल के सदृश था। ब्रिटेन में पार्लियामेंट के चुनाव में मजदूर-दल की बड़ी शानदार विजय हुई थी। भारत-मंत्री एमरी-सरीखे लोगों को—जो भारतीय स्वतंत्रता के कट्टर दुश्मन थे—इन चुनावों में मुँह की खानी पड़ी थी, और

प्रतिक्रियावादी टोरी-दल का कोई भी स्थान न रहा था ; अतएव मजदूर-दल की विजय से भारत में कुछ निश्चित आशाएँ बँध-सी गई थीं। ब्रिटेन में मजदूर-दल का शासन १० जुलाई, सन् १९४५ से प्रारंभ हुआ, और एमरी के स्थान पर, भारत-मंत्री के पद पर, लॉर्ड पैथिक लारेंस नियुक्त हुए। इसके पश्चात् शीघ्र ही लॉर्ड वेवेल को मजदूर-दलीय सरकार ने इँगलैंड बुलाया। वेवेल वहाँ २५ अगस्त को पहुँचे, और उनके लौटने के पूर्व ही केंद्रीय तथा प्रांतीय धारा-सभा के लिये नए निर्वाचनों को करने की घोषणा कर दी गई।

आजाद हिंद फ़ौज

जिस समय जनता आम निर्वाचनों के लिये तैयारियाँ कर रही थी, उसी समय देश-भर में अग्नि की तेज लपट के सदृश आजाद हिंद फ़ौज की कहानी फैल गई। आजाद हिंद फ़ौज का निर्माण युद्ध-काल में बर्मा और मलाया देशों में हुआ था। आजाद हिंद फ़ौज के तीन अफ़सरों पर मुक़दमा चलाया गया। इससे जनता में इतनी अधिक सनसनी और उत्तेजना फैली, जैसी आज तक कभी न हुई थी। ये बहादुर अफ़सर और सैनिक भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के प्रतीक बन गए। कर्नल शाहनवाज, कैप्टन प्रेमकुमार सहगल, लेफ्टिनेंट गुरुबख्शसिंह ढिल्लन के मुक़दमे से आजाद हिंद सेना के बारे में कुछ बहुत ही आश्चर्य-जनक और सनसनी-खेज तथ्य प्रकाश में आए। लोगों को ज्ञात हुआ कि किन

कठिन और विषम परिस्थितियों में इस सेना ने अपनी मातृ-भूमि को आज़ाद कराने का महान् प्रयत्न किया। भारतवर्ष में ऐसा कोई भी प्राणी न होगा, जिसका रक्त इन बहादुरी और कष्ट की कहानियों को सुनकर उबल न उठा हो, और स्वतंत्रता की ज्वाला हृदय में न जग उठी हो। प्रत्येक व्यक्ति आज़ाद हिंद के सैनिकों को, उनके महान् कार्य के लिये, श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगा था।

भारतीय नेताओं में पंडित जवाहरलाल नेहरू सर्वप्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने इन सैनिकों के साथ खुले आम सहानुभूति प्रकट की, तथा जिन अफ़सरों पर मुक़दमा चलाया जानेवाला था, उनको कांग्रेस की ओर से विश्वास दिलाया कि उनकी रक्षा का समुचित प्रबंध किया जायगा। इस प्रकार का प्रथम वक्तव्य उन्होंने काश्मीर से दिया। काश्मीर से लौटकर आने के पश्चात् उन्होंने कांग्रेस-कार्यकारिणी के सम्मुख प्रस्ताव रक्खा। परिणामतः कांग्रेस की ओर से इन अफ़सरों के लिये एक रक्षा-समिति बनाई गई, जिसमें चोटी के वकील सम्मिलित थे—इसमें श्रीभूलाभाई देसाई, सर तेजबहादुर सप्रू, डॉ० के० एन० काटजू, टेकचंद बख़्शी और स्वयं पंडित जवाहरलाल नेहरू सम्मिलित थे। पंडित नेहरू ने ३० वर्षों के पश्चात् अपनी बैरिस्टरी की पोशाक पहनी थी। वस्तुतः यह एक दर्शनीय दृश्य था। मुक़दमे के मुख्य पैरवीकार श्रीभूलाभाई देसाई थे, जिन्होंने वस्तुतः

बहुत महत्त्व-पूर्ण कार्य किया। उन्होंने जो योग्यता प्रदर्शित की, उससे उनको संसार के बड़े-से-बड़े वकीलों की श्रेणी में रक्खा जा सकता है। श्रीभूलाभाई देसाई और उनके साथियों ने जो कार्य किया, वह अत्यंत प्रशंसनीय है, और उसका मूल्य आँकना असंभव है। भारतीय वकीलों ने आजाद हिंद फ़ौज के कार्यों का औचित्य इस आधार पर सिद्ध किया कि किसी भी जनता अथवा सैनिकों को अपने देश की स्वतंत्रता के लिये किसी भी विदेशी हुकूमत से लड़ने का अधिकार है। और, आजाद हिंद फ़ौज के निर्माण का उद्देश्य था मातृभूमि को विदेशी शक्ति से स्वतंत्र करवाना। इसकी पुष्टि के लिये जनतंत्र वाद के सिद्धांतों और अंतर-राष्ट्रीय क़ानून के आधार पर बहस की गई। भारतीय वकीलों को जिस हद तक बहस करने का अधिकार था, वहाँ तक बहस की गई। अंत में लाल क़िले के मुक़दमे समाप्त हो गए, और तीनो अफ़सरों को देश-निर्वासन का दंड दे दिया गया। किंतु कमांडर-इन-चीफ़ ने इन सज़ाओं को क्षमा कर दिया। आजाद हिंद फ़ौज के अफ़सरों की मुक्ति से संपूर्ण देश में आनंद और उत्साह की लहर फैल गई, और देश के हरएक भाग में, जहाँ भी वे गए, उनका जय हिंद के नारों से अपूर्व स्वागत हुआ। जय हिंद के नारे के जन्मदाता थे आजाद हिंद सेना के निर्माता देश-गौरव श्रीसुभाषचंद्र बोस।

आजाद हिंद फ़ौज का इतिहास वस्तुतः देश-भक्त, महान्

त्यागी और वीर सुभाषचंद्र बोस का इतिहास है। सुभाषचंद्र बोस सन् १९४० में अपने कलकत्ता के निवास-स्थान से चुपके से एक रहस्यमय और नाटकीय ढंग से ग़ायब हो गए थे. और उन्होंने उसके बाद से भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम को एक दूसरी ही योजना से चलाया। विश्व के तत्कालीन इतिहास में सुभाषचंद्र बोस का जीवन अपने ढंग का एक अनूठा जीवन रहा है। कितना संघर्ष-पूर्ण जीवन था उनका, स्वतंत्रता के लिये मर मिटने की कितनी उद्दाम भावना थी उनमें। जब सुभाषचंद्र बोस ने अपना इंडियन-सिविल सर्विस का पद त्याग कर दिया, और देश-बंधु श्रीचितरंजनदास के नेतृत्व में कार्य करना प्रारंभ किया, उस समय सुभाष ने पूरी गंभीरता और उत्साह के साथ देश-सेवा का बीड़ा उठाया था। श्रीचितरंजनदास को उस समय क्या मालूम था कि उनके स्कूल का यह नवयुवक विद्यार्थी और कलकत्ता-कांग्रेस के स्वयं-सेवकों का यह संचालक एक दिन आज़ाद हिंद सेना का सर्वोच्च सेनापति बनेगा। १९२८ में वह स्वयंसेवकों के सेना-पति थे, और १९४२ में एक विशाल स्वतंत्रता की फ़ौज के।

यद्यपि आज़ाद हिंद सेना का निर्माण १९४२ के प्रारंभ में, सिंगापूर में, हुआ था, किंतु उस समय तक उसका संघटन इस प्रकार नहीं हुआ था, जैसा एक पूर्ण अनुशासन-वाली सुसंचालित सेना का हुआ करता था। अभी तक उसकी कोई विशेष स्थिति न बन पाई थी, और न उस समय तक

कोई प्रसिद्धि ही हो सकी थी, जब तक श्रीसुभाषचंद्र ने आकर उसका सचालन-भार अपने कंधों पर न ले लिया। सुभाष ने उसका सेनापतित्व सँभालते ही उसका एक नए ढंग पर पुनःसंघटन किया। सेना तथा सैनिकों में एक नव-जीवन फूँक दिया, और आज़ाद हिंद सेना के सैनिकों को अपने व्यक्तित्व से इतना प्रभावित किया कि वे अपने नेता के आदेश पर प्राणों को निःसंकोच न्यौछावर करने के लिये प्रस्तुत हो गए थे। देश के लिये किसी भी प्रकार के त्याग को उन्होंने कम समझा। इसको स्वतंत्र और अंतरराष्ट्रीय स्थिति प्रदान करने के उद्देश्य से सुभाषचंद्रजी ने सुदूर पूर्व में आज़ाद हिंद सरकार की स्थापना की। सुभाष बोस दो बार कांग्रेस के अध्यक्ष रह चुके थे, और उन्होंने विदेशों का भ्रमण बहुत अधिक किया था, अतएव बाहर के देशों में उनकी पर्याप्त प्रसिद्धि थी। उनके प्रयत्नों से इस आज़ाद हिंद सरकार को संसार के ६ स्वतंत्र देशों ने मान लिया, जिनमें इटली और जर्मनी भी सम्मिलित थे। इस असहायता की स्थिति में और किसी प्रकार की सुविधाओं के अभाव में भी सुभाषचंद्र ने जिस बुद्धिमत्ता के साथ सेना का संघटन किया, और उसका जिस योग्यता के साथ गौरव-पूर्ण संचालन किया, वह वास्तव में एक अत्यंत आश्चर्य-जनक कार्य था। इसमें किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं किया जा सकता कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद को हिलाकर उसे तहस-नहस कर देने

में आजाद हिंद सेना का बहुत बड़ा हाथ था, और इस दृष्टि से सुभाषचंद्र बोस ने स्वतंत्रता की प्राप्ति में जो योग दिया, वह अत्यंत महत्त्व-पूर्ण है, और इतिहास में सदैव स्वर्णाक्षरों में लिखा रहेगा।

सुभाषचंद्र बोस कितने अधिक योग्य थे, और उनका चरित्र कितना महान् था, इसे वे ही थोड़े-से लोग जानते हैं, जो सुभाषचंद्र बोस के घनिष्ठ संपर्क में आए। सुभाषचंद्र बोस 'मनुष्य' थे, उनका रोम-रोम वास्तविक 'मनुष्य' था, किंतु वह उस तरह के मनुष्य थे, जो किसी दूसरे प्रकाश से प्रकाशित नहीं होता, किंतु स्वयं अपनी अंतर्दृष्टि से तेज प्राप्त करता है, स्वयं सोचता, विचारता और देखता है। सुभाषचंद्र बोस पंडित जवाहरलाल के इस सिद्धांत को मानते थे कि 'सफलता प्राय: उनको मिला करती है, जो साहस-पूर्वक कार्य करते हैं। कायरों को नहीं मिला करती।' निश्चित ही सुभाष में साहस था, और उन्होंने दृढ़ निश्चय से कार्य भी किया, तथा उनके जीवन के बाद की घटनाएँ यह सिद्ध करती हैं कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद को ध्वंस करने और इस देश में आजादी की एक नई इमारत खड़ी करने में उनका बहुत बड़ा हाथ था। इतिहास में वह सदैव अमर रहेंगे।

अंतिम समझौता

सन् १९४६ के प्रारंभ में जो आम चुनाव हुए, उनमें पुन: कांग्रेस की शानदार विजय हुई। ८ प्रांतों में कांग्रेस को पूर्ण

बहुमत प्राप्त हुआ। पंजाब में कांग्रेस, अकाली और यूनियनिस्ट दल का मिश्रित मंत्रिमंडल बना, और मुसलिम लीग केवल दो प्रांतों—बंगाल और सिंध—में अपना मंत्रिमंडल बना सकी। एप्रिल, सन् १९४६ से सभी प्रांतीय मंत्रिमंडलों ने अपना कार्य पुनः प्रारंभ कर दिया।

इस समय भारत की परिस्थिति का ठीक-ठीक अध्ययन करने के उद्देश्य से ब्रिटिश सरकार ने एक पार्लियामेंट का प्रतिनिधि-मंडल भारत भेजा। प्रतिनिधि-मंडल ने इस बात की सिफ़ारिश की कि भारत को शीघ्र ही स्वतंत्रता प्रदान कर देनी चाहिए। १९ फ़रवरी, सन् ४६ को मजदूर-सरकार ने एक मंत्रि-मिशन की घोषणा की। इसकी घोषणा करते हुए लॉर्ड पैथिक लॉरेंस ने कहा—"भारत और ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के महत्त्व को ही नहीं, प्रत्युत विश्व-शांति की समस्या को ध्यान में रखते हुए ब्रिटिश सरकार ने हिज़ मैजेस्टी सम्राट् की स्वीकृति से यह निश्चय किया है कि भारतीय नेताओं से सफलतापूर्वक बातचीत करके भारतीय समस्या का निराकरण करने के लिये एक मंत्रि-मिशन भेजा जाय, जिसमें भारत-मंत्री लॉर्ड पैथिक लॉरेंस, बोर्ड ऑफ़ ट्रेड के अध्यक्ष सर स्टैफ़ोर्ड क्रिप्स और नौ-सेना के प्रथम लॉर्ड श्रीए० वी० अलेकजेंडर रहेंगे, जो वायसराय के साथ मिलकर भारतीय नेताओं के साथ समझौते का प्रयत्न करेंगे।"

मिशन नई दिल्ली में २३ मार्च, सन् १९४६ को पहुँच गया,

और भारतीय नेताओं से १ एप्रिल से समझौते की बातचीत शुरू हो गई। बाद में तीनो मंत्रियों ने सभी बड़े-बड़े दलों के नेताओं का एक सम्मेलन किया, किंतु इस सम्मेलन का कोई परिणाम न निकला। समस्या को सुलझाया न जा सका, और सभी जगह एक निराशा-सी फैल गई।

अंत में, १६ मई को, मिशन ने भारतीय समस्या को सुलझाने के लिये स्वयं अपनी एक योजना घोषित की। योजना का आधार प्रांतों का वर्गीकरण था। प्रांतों को, विधान बनाने के उद्देश्य से, तीन वर्गों—ए०, बी० और सी० वर्गों—में बाँट दिया गया था। इस योजना में यह निश्चय किया गया था कि विधान-परिषद् में ३८९ सदस्यों के लिये स्थान होगा, जिनमें से ९३ प्रतिनिधि देशी रियासतों के होंगे। इस परिषद् का प्रथम अधिवेशन होने के पश्चात् इसको भिन्न-भिन्न वर्गों में बाँट दिया जायगा, जो अपने-अपने प्रांतों और वर्गों का विधान बनाएँगे। उसके पश्चात् सभी प्रतिनिधि इकट्ठे होकर भारतीय संघ का अंतिम रूप से विधान निर्माण करेंगे। प्रतिनिधि का चुनाव सांप्रदायिक आधार पर होगा। प्रत्येक दस लाख की जन-संख्या पर एक प्रतिनिधि होगा। १० वर्ष के पश्चात् यदि कोई वर्ग भारतीय संघ से अलग होना चाहता है, तो उसे अलग होने का अधिकार होगा। ब्रिटिश सरकार ने यह वचन दिया था कि वह इस प्रकार से बनाए गए विधान को लागू करेगी। यदि भारत साम्राज्य के अंतर्गत रहना

चाहता है, तो उसका स्वागत होगा, अन्यथा उसे ब्रिटिश साम्राज्य के बाहर जा सकने का पूर्ण अधिकार होगा।

मंत्रि-मिशन की घोषणा के एक सप्ताह पूर्व पंडित जवाहर-लाल नेहरू को चौथी बार कांग्रेस का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। इस आशय की एक घोषणा शिमला से कांग्रेस के महामंत्री आचार्य कृपलानी द्वारा ९ मई को की गई। इसके पश्चात् दिल्ली में, पंडित नेहरू की अध्यक्षता में, कांग्रेस-कार्यकारिणी समिति ने मिशन-योजना पर विचार किया। यद्यपि मिशन-योजना में वर्गों को जो भारत से बाहर जाने की स्वतंत्रता दी गई थी, उसका अर्थ लगभग भारत का विभा-जन ही था, किंतु कांग्रेस सदा ही से आत्मनिर्णय के सिद्धांत पर विश्वास रखती रही है, और उसकी यह नीति कभी नहीं रही कि प्रांतों को जबरदस्ती, उनकी इच्छा के विरुद्ध, भारतीय संघ में रक्खा जाय, अतएव इन सब बातों पर विचार करते हुए कांग्रेस-कार्यकारिणी समिति ने प्रकट किया कि वह मिशन-योजना को स्वीकार करने के पक्ष में है।

इस योजना का एक मुख्य भाग था एक अंतर्कालीन राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करना। किंतु मुसलिम लीग ने एक ओर तो कांग्रेस के साथ समानता की माँग की, और दूसरी ओर यह माँग की कि कांग्रेस के प्रतिनिधियों में किसी मुसलिम सदस्य को न रक्खा जाय। कांग्रेस का चूँकि यह दावा रहा है कि वह किसी वर्ग-विशेष अथवा जाति का प्रतिनिधित्व नहीं

करती, वह एक राष्ट्रीय संस्था है, अतएव उसने लीग के इस सांप्रदायिक विद्वेष-पूर्ण प्रस्ताव को मानने से इनकार कर दिया। अंत में कांग्रेस-कार्यकारिणी समिति ने २५ जून को दीर्घ-कालीन प्रस्तावों का (Long term proposals) स्वीकृत कर लिया, और संक्षिप्त अवधिवाले प्रस्तावों को ठुकरा दिया। कार्यकारिणी की स्थिति समझाते हुए पंडित नेहरू ने ४ जुलाई की एक घोषणा में कहा—"अभी तक जो संधि-चर्चा चलती रही हैं, उन पर कांग्रेस ने एक ही दृष्टिकोण से विचार किया है—भारतीय स्वतंत्रता के दृष्टिकोण से। मिशन-प्रस्तावों में हमें कुछ चीजें अच्छी मालूम हुईं, तो कुछ बुरी, अतएव हमने योजना का अच्छा-अच्छा हिस्सा चुन लिया, और खराब हिस्सा ठुकरा दिया। हमने अंतर्कालीन प्रस्तावों को मानने से इसलिये इनकार कर दिया कि कांग्रेस बहुत सोच-विचार के बाद इस परिणाम पर पहुँची। उनको स्वीकार कर लेने से हमारे उन सिद्धांतों को घातक धक्का लगेगा, जिनका पालन हम आज एक दीर्घकाल से करते आए हैं, और कांग्रेस का भवन जिस आधार पर बनाया गया है, वह आधार ही नष्ट हो जायगा। हम इतने बड़े को देने के लिये प्रस्तुत न थे।" कांग्रेस-कार्यकारिणी का यह प्रस्ताव बंबई में ६ और ७ जुलाई को होनेवाली कांग्रेस-महासमिति द्वारा भी स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार देश की स्वीकृति की मुहर भी इन प्रस्तावों पर लग गई।

यहाँ यह बता देना उपयुक्त होगा कि कांग्रेस ने दीर्घकालीन प्रस्तावों को स्वीकृत करते हुए यह स्पष्ट कर दिया था कि विधान-परिषद् के ऊपर देश के विधान बनाने का भार है, अतएव यह एक सर्वोच्च सत्ता-पूर्ण परिषद् होगी। किंतु मुसलिम लीग का मत इसके बिलकुल विपरीत था। योजना के वर्गीकरणवाले भाग के संबंध में भी कांग्रेस और लीग के दृष्टिकोणों में बहुत अधिक अंतर था। कांग्रेस का दृष्टिकोण विस्तृत था और लीग का अत्यंत संकुचित। इसका परिणाम यह हुआ कि लीग की कार्यकारिणी समिति ने मिशन-योजना को पहले स्वीकार कर लिया था, किंतु लीग कौंसिल ने उन्हीं प्रस्तावों को ठुकरा दिया, और मुसलिम लीग ने विधान-परिषद् का बहिष्कार किया।

विधान-परिषद् की स्थापना के साथ ही अंतर्कालीन राष्ट्रीय सरकार की स्थापना भी एक अनिवार्य वस्तु थी। ब्रिटिश सरकार इस तथ्य को केवल मानती ही न थी, बल्कि ब्रिटिश प्रधान मंत्री मेजर एटली की १५ मार्च, सन् ४६ की घोषणा को मानने और उसे कार्य-रूप में परिणत करने के लिये भी बाध्य थी। इस वक्तव्य में प्रधान मंत्री ने कहा था—"किसी भी अल्पमत को बहुमत की उन्नति के मार्ग में बाधा डालने का अधिकार न होगा।" परिणामतः वायसराय ने पंडित जवाहरलाल को राष्ट्रीय सरकार का निर्माण करने के लिये आमंत्रित किया। १२ अगस्त, सन् १९४६ को वायसराय-

भवन से प्रकाशित एक विज्ञप्ति में कहा गया—"भारतवर्ष के वायसराय ने सम्राट् की स्वीकृति से कांग्रेस के अध्यक्ष को आमंत्रित किया है कि वह तुरंत अंतकालीन राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिये प्रस्ताव रक्खें, और कांग्रेस के अध्यक्ष ने इस आमंत्रण को स्वीकार कर लिया है।"

वस्तुतः यदि १९२९, जब कि जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस के प्रथम बार अध्यक्ष बनाए गए थे, उस संस्था के इतिहास में एक परिवर्तनकारी समय सिद्ध हुआ, तो सन् १९४६, जब कि वह उस महान् पद के लिये चौथी बार निर्वाचित हुए, समस्त देश के इतिहास के लिये एक परिवर्तनकारी समय सिद्ध हुआ।

पंडित जवाहरलाल के नेतृत्व में अंतकालीन सरकार ने २ सितंबर को पद ग्रहण किया। दूसरे महीने में ही वेवेल ने फिर एक बहुत बड़ी भूल की, और लीग को अंतकालीन सरकार में आने का आमंत्रण दिया। वेवेल ने इस बात की भी कोई माँग नहीं की कि सरकार में सम्मिलित होने के पूर्व लीग यह आश्वासन दे कि वह कांग्रेस के साथ संयुक्त उत्तरदायित्व के आधार पर कार्य करेगी। इसके सिवा लीग के सरकार में सम्मिलित होने में एक बहुत बड़ी वैधानिक अड़चन थी। लीग ने १६ मई की दीर्घकालीन योजना को स्वीकार नहीं किया था, और वायसराय ने यह स्वयं कह दिया था कि कोई भी दल उसी समय सरकार में सम्मिलित होने का अधिकारी हो

सकता है, जब कि वह उक्त योजना को स्वीकार करे। किंतु १६ ऑक्टोबर, १९४६ को लीग भी सरकार में सम्मिलित हो गई। यह स्पष्ट है कि लीग किसी अच्छे इरादे से शासन-कार्य में हाथ बँटाने नहीं आई थी। प्रारंभ से ही इसने कांग्रेस-मंत्रियों के कार्य में बाधा डालना प्रारंभ कर दिया, और देश की अत्यावश्यक समस्याओं के प्रति पूर्णतः उपेक्षा प्रदर्शित की। लीग के सदस्यों की हठधर्मी से कांग्रेसी मंत्रियों के कार्य में इतनी बाधा पड़ने लगी कि वह असंभव हो गया। इस प्रकार की दुःख-जनक परिस्थिति पर पड़ा हुआ परदा सरदार पटेल और पंडित नेहरू ने मेरठ-कांग्रेस में उठाया, और उनके कार्यों पर प्रकाश डाला। मेरठ-कांग्रेस का अधिवेशन नवंबर, सन् १९४६ में, आचार्य कृपलानी की अध्यक्षता में, हुआ। २१ नवंबर को पंडित नेहरू ने खुले आम यह बतलाया कि अंतर्कालीन सरकार में लीग के आने के पश्चात् से सरकार का वातावरण इतना बिगड़ गया है कि कांग्रेस दो बार त्याग-पत्र देने की धमकी दे चुकी है। पंडित नेहरू ने वायसराय पर यह अभियोग लगाया कि जिस भावना से कार्य प्रारंभ हुआ था, वायसराय अब उसी भावना से कार्य नहीं कर रहे हैं। पंडित नेहरू ने कहा—"वायसराय धीरे-धीरे गाड़ी के पहियों को हटाते जा रहे हैं, और एक संकट-पूर्ण परिस्थिति पैदा कर रहे हैं।" विधान-परिषद् और कांग्रेस के निश्चय का हवाला देते हुए पंडित नेहरू ने पूछा कि यदि लीग ने १६ मई के

प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया—जैसा जनाब जिन्ना के पत्र से स्पष्ट था—तो लीगी सदस्यों को अंतर्कालीन सरकार में सम्मिलित होने का क्या अधिकार था ?

कांग्रेस के मेरठ-अधिवेशन की समाप्ति के पश्चात् ही ब्रिटिश प्रधान मंत्री मेजर एटली ने एकाएक कांग्रेस, सिख और लीग के नेताओं को लंदन आने का आमंत्रण दिया, जिससे वे वहाँ आकर बातचीत करके कठिनाइयों को सुलझा सकें। नेहरू, जिन्ना, लियाक़तअली खान और सरदार बलदेवसिंह १ दिसंबर को इँगलैंड के लिये रवाना हो गए। पंडित नेहरू ने प्रधान मंत्री एटली की व्यक्तिगत प्रार्थना पर कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से जाना स्वीकार किया था। लंदन-सम्मेलन थोड़े ही दिनों तक चला, और ६ दिसंबर को ब्रिटिश सरकार ने एक घोषणा प्रकाशित की, जिसके अनुसार योजना के वर्गीकरण के प्रश्न पर लीग के मत का समर्थन किया गया। इस प्रकार अपने कार्यों के लिये ब्रिटिश सरकार का समर्थन प्राप्त करके लीग अपनी हठधर्मी पर और भी दृढ़ हो गई, और विधान-परिषद् के बहिष्कार के निश्चय को पूर्ववत् ही बनाए रक्खा। मुसलिम लीग द्वारा बहिष्कार करने पर भी ६ दिसंबर, १६४६ को विधान-परिषद् का कार्यारंभ हो गया। देश के विभिन्न भागों से जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों ने विधान-निर्माण के कार्य में भाग लिया। इन प्रतिनिधियों की संख्या २०० से अधिक थी। इस विधान-

भवन में—जहाँ स्वतंत्र भारत के इतिहास का निर्माण हो रहा था—किसी प्रकार की निराशा नहीं थी। २६२ विद्युत्-बल्बों से विधान-कक्ष प्रकाशमान हो रहा था। नैराश्य का अंधकार सिमटकर एक ओर चला गया था, उसे मुँह छिपाने के लिये स्थान न मिल रहा था।

भारतवर्ष के प्रसिद्ध वैधानिक पंडित डॉक्टर सच्चिदानंद सिनहा ने विधान-परिषद् के प्रथम अधिवेशन के अध्यक्ष-पद को सुशोभित किया।

गंभीर, किंतु मनहूसियत से दूर, एक उत्साह-पूर्ण, किंतु अनाटकीय ढंग से परिषद् का कार्य उसी प्रकार प्रारंभ हुआ, जिस प्रकार महान् ऐतिहासिक कार्यों को वस्तुतः प्रारंभ करना चाहिए। इसी गंभीर और प्रभाव-जनक वातावरण के बीच डॉक्टर सच्चिदानंद सिनहा के ये शब्द गूँज उठे—"जहाँ दूरदर्शिता नहीं है, वहाँ विनाश निश्चित है।" निःसंदेह भारतीय जनता बहुत ही अधिक दूरदर्शी रही है, स्वतंत्रता के प्रति उसका दृष्टिकोण विशाल रहा है, और इसके लिये भारतीय जनता ने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। यही कारण है कि वह आज भी जीवित है—स्वतंत्रता का यह नव स्वर्णिम प्रभात देखने के लिये। शताब्दियों के अत्याचार-पूर्ण दमन और नैराश्य-जनक परिस्थिति से वह हतोत्साह नहीं हुई। इन्हीं नर और नारियों पर अब यह महान् भार आकर पड़ा था कि वे स्वतंत्र भारत के नव-विधान का निर्माण करें।

कुछ परंपरागत वैधानिक कार्यवाहियों के पश्चात् परिषद् ने अपना स्थायी अध्यक्ष डॉक्टर राजेंद्रप्रसाद को निर्वाचित किया। डॉक्टर राजेंद्रप्रसाद देश के सर्वश्रेष्ठ जन-प्रिय नेताओं में से हैं, महान् राजनीतिज्ञ, देश-भक्त, विद्वान्, सुलेखक और एक अपूर्व शक्तिमान् रचनात्मक कार्यकर्ता हैं। विधान-परिषद् ने एक मत से उन्हें अपना अध्यक्ष निर्वाचित किया, और इस प्रकार एक महान् राष्ट्र के भाग्य-निर्माण का कठिन कार्य एक विश्वसनीय राष्ट्र-निर्माता के हाथों में सौंप दिया गया।

यहाँ यह भी लिख देना अनुपयुक्त न होगा कि बंबई में मुसलिम लीग ने मंत्रि-मिशन-योजना को अस्वीकृत कर देने के पश्चात् समस्त मुसलिम लीगियों को आदेश दिया कि वे १६ अगस्त को 'सीधा संग्राम-दिवस' मनाएँ। इसके परिणाम-स्वरूप उस दिन कलकत्ता का भीषण हत्याकांड हुआ, जो सदैव भारतीय इतिहास में एक काला दाग़ बना रहेगा। इसके पश्चात् फ़रवरी, १९४७ में लीग ने पंजाब के संयुक्त मंत्रि-मंडल तथा सीमा-प्रांत के खान-मंत्रिमंडल के विरुद्ध अपना अवैधानिक और हिंसात्मक आंदोलन प्रारंभ किया। पंजाब के प्रधान मंत्री खिजर हयात खान तिवाना ने लीग के सामने घुटने टेक दिए, और उनके मंत्रिमंडल ने त्याग-पत्र दे दिया। इस त्याग-पत्र के पश्चात् पंजाब में अशांति और अव्यवस्था बहुत अधिक बढ़ गई, और जगह-जगह सांप्रदायिक दंगे प्रारंभ हो गए। बाद में यही सब सीमा-प्रांत

में भी फैल गया। पंजाब के दंगे बहुत बड़े पैमाने पर हुए। संघटित और सशस्त्र मुसलिम दलों ने गाँवों पर हमले करके निःशस्त्र हिंदू और सिखों का क़त्लेआम किया, उनके परिवारों को लूटा, लोगों को जीवित जला दिया। बलात्कार और लूट का तो कोई शुमार ही न था।

मुसलिम लीग द्वारा ये बर्बरता-पूर्ण हत्याकांड देश के विभिन्न भागों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, चलाए जाते रहे। इसी बीच २० फ़रवरी को ब्रिटिश सरकार ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसमें कहा गया कि ब्रिटिश जून, १९४८ तक भारत छोड़ देंगे, और वायसराय लॉर्ड वेवेल को बुलाकर उनकी जगह लॉर्ड माउंटबेटेन को नियुक्त करने की बात कही गई। इस पर महात्मा गांधी ने ब्रिटिश सरकार को यह सलाह दी कि चूँकि वह भारत छोड़ने का निश्चय कर चुकी है, अतएव इसी समय तत्काल भारत छोड़ दे, क्योंकि ब्रिटिश इस देश में तटस्थ दर्शक की भाँति रह रहे हैं। यद्यपि शक्ति अब भी उन्हीं के हाथों में है, अतएव अशांति और अव्यवस्था को समाप्त नहीं कहा जा सकता, और इसी कारण अंतःकालीन सरकार अपने को असहाय अनुभव कर रही है।

लॉर्ड माउंटबेटेन २२ मार्च, सन् १९४७ को भारत आए। उन्होंने यह ज़ाहिर किया कि वह शांति-पूर्ण तरीक़ों से 'शक्ति-परिवर्तन' करने के लिये दृढ़ निश्चित हैं। यहाँ आने के

पश्चात् ही उन्होंने भारतीय नेताओं से बातचीत करके परिस्थिति को समझना प्रारंभ किया। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि भारत में अब हिंदू-मुसलिम एकता असंभव है। मुसलिम लीग—जिसे ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने जन्म दिया था—इस पर तुल गई थी कि भारत में अशांति और दंगे हों, हिंदू-मुसलिम एकता का वह विनाश कर रही थी, तथा एक अलग राष्ट्र की माँग के लिये दृढ़-प्रतिज्ञ हो गई थी। भारतीय नेताओं से बातचीत करने के समय माउंटबेटेन ब्रिटिश शासकों से आदेश प्राप्त करते रहते थे, और अंत में स्वयं वायुयान द्वारा इँगलैंड गए, जहाँ उन्होंने ब्रिटिश मंत्रि-मंडल के मंत्रियों से इस संबंध में बातचीत की। वहाँ से लौटने के पश्चात् ही भारत के अंतिम वायसराय लॉर्ड माउंट-बेटेन ने ३ जून को रेडियो द्वारा एक घोषणा की, जिसके अनुसार एक अलग मुसलिम राष्ट्र का निर्माण किया गया, और भारत तथा पाकिस्तान को १५ अगस्त को शासन-शक्ति दे देने का वचन दिया गया।

माउंटबेटेन की योजना को देश के सभी मुख्य-मुख्य राज-नीतिक दलों ने स्वीकार कर लिया। कांग्रेस-कार्यकारिणी की योजना की स्वीकृति के निश्चय को बतलाते हुए पंडित नेहरू ने रेडियो से भाषण करते हुए कहा—"एक युग से हम एक स्वतंत्र, स्वाधीन और अखंड भारत का स्वप्न देखते रहे और उसके लिये संघर्ष करते रहे हैं। भारत के कुछ भागों

को भारत से बाहर जा सकने का अधिकार देनेवाले प्रस्तावों से हम सभी को कष्ट और मानसिक वेदना हुई है। किंतु कुछ भी क्यों न हो, मैं इस मत को माननेवाला हूँ कि हमारा वर्तमान निश्चय प्रत्येक दृष्टि से पूर्णतः सही है। हमने जिस अखंड भारत के लिये आज तक प्रयत्न किया है, वह लोगों को बल-पूर्वक बाँधकर रखनेवाले भारत के लिये न था, वह जनता की इच्छा से मिलकर रहनेवाला भारत था। हो सकता है, इस प्रकार हम अपने लक्ष्य 'एक भारत' की ओर अधिक तेजी से पहुँच सकें, और हो सकता है कि अब उसकी नींवें अधिक मजबूत और सुरक्षित हों।"

माउंटबेटेन की योजना के अनुसार यह निश्चय हुआ कि बंगाल और पंजाब-प्रांतों का विभाजन किया जायगा, और एक-एक भाग पाकिस्तान तथा भारत में आएगा। सीमा-प्रांत और आसाम के सिलहट-प्रदेश ने जन-मत-गणना द्वारा पाकिस्तान में सम्मिलित होने का निश्चय किया, बिलोचिस्तान ने भी पाकिस्तान में सम्मिलित होना स्वीकार किया, सन् १६३५ के भारत-क़ानून में सुधार करके ब्रिटिश सरकार ने १८ जुलाई, सन् १६४७ को 'भारतीय स्वतंत्रता-क़ानून' पास कर दिया, और अंततः १५ अगस्त को भारत और पाकिस्तान की सत्ता हस्तांतरित कर दी गई। पंजाब और बंगाल के विभाजन को कार्य-रूप में परिणत करने और विभाजित प्रांतों की सीमा निर्धारित करने के लिये एक 'सीमा-कमीशन' का

निर्माण किया गया, जिसके अध्यक्ष सर सिरिल रेडक्लिफ बनाए गए। यह कमीशन शक्ति-परिवर्तन के समय दो मास पूर्व नियुक्त किया गया था। कमीशन के हिंदू और अ-हिंदू सदस्यों में, कई मामलों में, बहुत अधिक मतभेद था, और अंत में अध्यक्ष ने अपना निर्णय दिया, जो १८ अगस्त को प्रकाशित किया गया। भारत और पाकिस्तान, दोनो की सरकारों ने यह वचन दे दिया था कि सीमा-कमीशन के निर्णय को दोनो ही सरकारें पूर्णतः मानेंगी, और रेडक्लिफ-निर्णय को टाला अथवा दुहराया न जा सकेगा।

रेडक्लिफ-निर्णय के अनुसार पूर्वी पंजाब और पश्चिमी बंगाल भारतीय संघ में मिलाया गया, तथा पश्चिमी पंजाब और पूर्वी बंगाल पाकिस्तान के अंतर्गत कर दिया गया। इन दो प्रांतों का विभाजन निम्न-लिखित रीति से हुआ—

पूर्वी पंजाब (भारतीय संघ)

(१) अंबाला-प्रदेश (संपूर्ण)

(२) जालंधर-प्रदेश (संपूर्ण)

(३) लाहौर-प्रदेश—

(अ) अमृतसर जिला

(ब) पठानकोट, गुरुदासपुर और बटाला-तहसील

(स) कसूर-तहसील का कुछ हिस्सा

पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान)

(१) रावलपिंडी-प्रदेश (संपूर्ण)

(२) मुलतान-प्रदेश (संपूर्ण)

(३) लाहौर-प्रदेश—

(अ) गुजरानवाला, शेखपुरा और स्यालकोट

(ब) शाहरगढ़-तहसील (गुरुदासपुर जिला)

(स) चुनियाँ और लाहौर-तहसील तथा लाहौर-प्रदेश की कसूर-तहसील का कुछ भाग

पूर्वी बंगाल (पाकिस्तान)

(१) चिटगाँव-प्रदेश

(२) ढाका-प्रदेश

(३) रंगपुर, बोगरा, राजशाही और पबना जिले (राजशाही-प्रदेश)

(४) खुलना जिला (प्रेसीडेंसी-प्रदेश)

(५) नादिया, जेसोर, दिनाजपुर, जलपगुरी और मालदा जिले के कुछ हिस्से

पश्चिमी बंगाल (भारतीय संघ)

(१) बर्दवान-प्रदेश

(२) दार्जिलिंग जिला (राजशाही-प्रदेश)

(३) कलकत्ता, प्रेसीडेंसी-प्रदेश के २४ परगना और मुर्शिदाबाद के जिले

(४) नादिया, जेसोर, दिनाजपुर, जलपगुरी और मालदा जिले के कुछ भाग

सिलहट

आसाम-प्रांत के सिलहट जिले का भी विभाजन किया गया। इस जिले के चार थाने आसाम के साथ रहते हैं, शेष पूर्वी बंगाल के साथ मिला दिए गए।

इस प्रकार पाकिस्तान में निम्न-लिखित प्रांत तथा प्रदेश आए—

पश्चिमी पंजाब, सीमा-प्रांत*, सिंध और बिलोचिस्तान, पूर्वी बंगाल (जिसमें सिलहट भी सम्मिलित है।)

शेष भारत भारतीय संघ के अंतर्गत आता है।

इस प्रकार भारत से एक दीर्घ काल के पश्चात् ब्रिटिश शासन की—अत्याचार-पूर्ण ब्रिटिश शासन की समाप्ति हुई। अंत में कांग्रेस अपने एक शताब्दी के संघर्ष में विजयी हुई, और देश को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। यद्यपि यह भारत के लिये एक बहुत बड़ी दुःखांत घटना हुई कि भारतवर्ष का विभाजन हो गया। वस्तुतः भारत का विभाजन ब्रिटिश शासकों की इस देश को अंतिम देन थी। जिस दिन से ब्रिटिश जाति ने इस देश में अपने क़दम रक्खे, उसी दिन से अपनी विभा-

---

* यहाँ यह भी कह देना उपयुक्त होगा कि सीमा-प्रांत की बहुत बड़ी जनता की संख्या पाकिस्तान में सम्मिलित नहीं होना चाहती थी, और उसने 'आज़ाद पठानिस्तान' की ज़ोरदार माँग की है, जिसका समर्थन न केवल भारत ने, प्रत्युत अफ़ग़ानिस्तान आदि देशों ने भी किया है।

दमन-नीति प्रारंभ कर दी। किंतु तब भी भारत की स्वतंत्रता अपूर्व थी, गौरवमय थी, उन बहादुरों की विजय थी, जिन्होंने इसके लिये अनेक प्रकार के अत्याचार सहे, और अंत में अपने लक्ष्य को प्राप्त किया। वस्तुतः भारत ने जिस प्रकार विश्व के सम्मुख और भी कई प्रकार के आदर्श रक्खे हैं, उसी प्रकार उसने यह आदर्श भी प्रस्तुत किया कि विश्व की बड़ी-से-बड़ी शक्ति भी स्वतंत्रता के लिये संघर्ष करनेवाली शक्तियों को दबा नहीं सकती, और कोई भी देश सत्य एवं त्याग के बल पर अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है।

और, आज भारत स्वतंत्र हो गया है। कल तक जो देश पतनावस्था में समझा जाता था, वही आज आत्मगौरव और आत्मविश्वास के साथ विश्व के महान् देशों के साथ बैठा हुआ है। वह केवल स्वयं स्वतंत्र नहीं हुआ, प्रत्युत एशिया के दूसरे पराधीन और शोषित राष्ट्रों को स्वतन्त्रता दिलाने के लिये भी प्रयत्नशील है। आज वह पुनः एक बार शक्तिमान् हुआ है, और निश्चय ही वह एशियाई देशों का नेतृत्व तथा विश्व का पथ-प्रदर्शन करेगा।

छठा अध्याय

भारतीय संघ

किसी भी राष्ट्र का विधान अथवा मूलभूत उद्देश्यों और सिद्धांतों का निर्माण प्रायः किसी क्रांति के समय या उसके पश्चात्, किसी बड़ी आर्थिक अथवा सामाजिक उथल-पुथल के पश्चात्, हुआ करता है, जब यह आवश्यक होता है कि विधान बनाते समय अथवा इस प्रकार की कार्यवाहियों के समय पूर्णतः मानसिक शांति, शांति-पूर्ण सामाजिक व्यवस्था और आर्थिक निश्चितता होनी चाहिए।

अमेरिका के विधान का निर्माण स्वतंत्रता के युद्ध के पश्चात् हुआ था। फ्रांस का विधान क्रांति के समय और नेपोलियन के शासन-काल में तथा बाद में वाटरलू के बाद १८४८ और १८७० के पश्चात् हुआ। इटली का विधान १८४८ के उदारदलीय आंदोलन का परिणाम था। यहाँ तक कि स्विटजरलैंड के विधान भी १८१५, १८४८ और १८७४ में बने—उस समय, जब कि समय बहुत ही अनिश्चित था, और संपूर्ण योरप में राजनीतिक तथा आर्थिक उथल-पुथल मच रही थी।

समय के चक्र ने अँगरेजों को भारत छोड़ने के लिये बाध्य

कर दिया, और उन्होंने भारत छोड़ा। किंतु उन्होंने उसे किस हीनावस्था में करके छोड़ा—देश के सम्मुख कितने भीषण कष्ट थे, कितनी दयनीय निर्धनता थी, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से उसकी पतनावस्था कितनी अधिक बढ़ गई थी। अतएव इस समय भारतीय विधान-निर्माताओं के सम्मुख सबसे बड़ा काम था कि ब्रिटिशों ने जिस प्रकार के सामाजिक और आर्थिक ढाँचे को बनाया था, उसे परिवर्तित करके एक ऐसा ढाँचा बनाया जाय, जिसका आधार निश्चित सिद्धांतों की नींव तथा सामाजिक न्याय और समानता हो। इसलिये विधान-परिषद् में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने सर्व-प्रथम मूलभूत उद्देश्यों और सिद्धांतों का प्रस्ताव प्रस्तुत किया।

भारतीय स्वतंत्रता का घोषणा-पत्र

१३ दिसंबर, सन् १९४६ के दिन पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भारत के स्वतंत्र विधान के उद्देश्यों और लक्ष्यों के संबंध का प्रस्ताव रक्खा। अपने इस ऐतिहासिक प्रस्ताव पर भाषण देते हुए उन्होंने कहा—"यह एक प्रस्ताव है, किंतु तब भी यह एक प्रस्ताव से कुछ अधिक है, यह एक घोषणा है, यह एक निश्चय है, यह हम सब लोगों के लिये एक प्रतिज्ञा और शपथ है। और, मैं आशा करता हूँ, यह एक समर्पण है।" पंडित नेहरू ने एक बहुत ही सुंदर, दूरदर्शिता-पूर्ण तथा उच्च सिद्धांतों से ओत-प्रोत वक्तृता द्वारा अपने प्रस्ताव के महत्त्व को समझाया। भारत के गत इतिहास और उसकी

स्वतंत्रता के संघर्ष पर एक दृष्टि डालते हुए उन्होंने इस प्रस्ताव की आवश्यकता बतलाई। विधान-परिषद् ने २१ जनवरी, सन् १६४७ को, बहुत उत्साह और हर्ष के साथ, इस महान् ऐतिहासिक प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। यही वह प्रस्ताव और घोषणा-पत्र है, जिसके आधार पर सर्वोच्च सत्ता-पूर्ण भारतीय जनतंत्रवादी सरकार का विधान निर्मित किया गया है। घोषणा-पत्र इस प्रकार है—

"यह विधान-परिषद् घोषित करती है कि हमारा यह निश्चय है कि भारत में सर्वोच्च सत्ता-पूर्ण जनतंत्रवादी सरकार स्थापित की जाय, और उसके भविष्य के शासन-संचालन के लिये एक विधान का निर्माण किया जाय।"

"ब्रिटिश भारत के अंतर्गत इस समय जो प्रदेश हैं—वे प्रदेश, जो भारतीय रियासतों के अंतर्गत हैं, और भारत के वे भाग, जो ब्रिटिश भारत के बाहर हैं, और वे रियासतें और दूसरे ऐसे प्रदेश, जो सर्वोच्च सत्ता-पूर्ण जनतंत्रवादी भारत में सम्मिलित होना चाहते हैं—सब मिलकर भारतीय संघ बनाएँगे, और

"ऊपर लिखे गए सभी प्रदेश—अपनी वर्तमान सीमाओं के साथ बाद में उन सीमाओं के साथ, जिन्हें विधान-परिषद् निश्चित करे—विधान के नियमों के अनुसार शासन-कार्य में पूर्ण स्वतंत्र होंगे, और उनके पास अवशिष्ट शक्तियाँ भी रहेंगी, तथा शासन और प्रबंध के सभी अधिकार उन्हें प्राप्त

होंगे। उनको केवल वे अधिकार प्राप्त न होंगे, और न वे उस प्रकार के कार्य ही कर सकेंगे, जिनका अधिकार संघ को होगा, जो संघ को मिले हुए हैं, अथवा संघ के अंतर्गत कर दिए गए हैं, और

"सर्वोच्च सत्ता-पूर्ण जनतंत्रवादी भारतीय सरकार की सभी शक्तियों का आधार तथा उसके अन्य हिस्सों और सरकारी विभागों की शक्ति का आधार भारतीय जनता होगी, और

"भारत के सभी व्यक्तियों को निम्न-लिखित वस्तुएँ समान रूप से प्राप्त होंगी—सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक न्याय; स्थिति, अवसर और क़ानून की समानता; क़ानून और नैतिकता का ध्यान रखते हुए—विचार, भाषण, विश्वास, धर्म, पूजा, धंधा, सम्मेलन और कार्य की स्वतंत्रता, और

"अल्पमतों, पिछड़ी जातियों, आदिवासियों, हरिजनों और दूसरी पिछड़ी तथा अवनत जातियों की रक्षा का समुचित प्रबंध किया जायगा।

"संघ की सीमाओं और प्रदेशों की अखंडता की रक्षा की जायगी, सभ्य देशों के क़ानून और न्याय के अनुसार भूमि, समुद्र और वायु-मार्ग पर पूर्ण अधिकार रक्खा जायगा।

"यह प्राचीन देश विश्व में अपना उचित और गौरव-पूर्ण स्थान लेगा, और विश्व-शांति तथा मानवता की उन्नति के लिये अपना पूर्ण और सामर्थ्य-भर सहयोग देगा।"

इस प्रकार पंडित नेहरू के शब्दों में 'भारत की विधान-

परिषद् ने मुख्यतः भारत के करोड़ों व्यक्तियों के साथ तथा साधारणतः विश्व के साथ एक ठहराव-सा कर लिया।' वस्तुतः प्रस्ताव दो अतिसीमाओं के बीच में ही रहा, और उसने इस प्रकार कुछ निश्चित सिद्धांत मान लिए कि कोई भी दल, संघ अथवा व्यक्ति इन पर कोई भी एतराज न कर सका, न उन्हें अस्वीकार ही कर सका। 'भारत एक जनतंत्र-वादी राष्ट्र होगा,' इस संबंध में बोलते हुए पंडित नेहरू ने कहा—"हम बिना किसी आधार के यहाँ राज्यतंत्र नहीं रख सकते, और न किसी बाहरी राज्यतंत्र को ही स्वीकार कर सकते हैं।" निश्चित ही पंडित नेहरू का भारत कभी राज्य-तंत्र को स्वीकार नहीं कर सकता, और न किसी नौकरशाही को ही सहन करेगा। वह तो केवल जनतंत्रवादी हो सकता है, जो कि वह है।

मूलभूत सिद्धांत

हरएक स्वतंत्र राष्ट्र का महत्त्व वहाँ की जनता के अधि-कारों से जाना जाता है, तथा हरएक नागरिक का यह स्वाभाविक और क़ानूनी अधिकार होता है कि वह समाज से इस बात की माँग करे कि वह उसको एक अच्छे जीवन की समस्त सुविधाएँ प्रदान करे। इस विषय के पंडित प्रोफ़ेसर हेरोल्ड लस्की ने लिखा है—"अधिकार किसी भी राष्ट्र के आधार होते हैं, वे इस प्रकार के गुण हैं, जो शक्ति-प्रयोग में नैतिकता की भावना ला देते हैं, वे स्वाभाविक अधिकार भी

इस अर्थ में हैं, क्योंकि एक सफल जीवन के लिये वे आवश्यक होते हैं।"

प्राचीन ग्रीक देश में राष्ट्र को जीवन का सर्वश्रेष्ठ तथ्य माना जाता था, और मनुष्य के प्रत्येक कार्य का राष्ट्र के विकास के प्रति वैसा ही संबंध रहता था, जैसे नदी और समुद्र का होता है। एथेंस में नागरिकता को सर्वश्रेष्ठ गौरव समझा जाता था। राजनीतिज्ञ गिल क्राइस्ट के अनुसार नगर का सिद्धांत ही एथेंसवासियों के लिये नीति-शास्त्र, समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र और यहाँ तक कि राजनीति भी थी। प्लेटो के अनुसार राष्ट्र जनता का एक बहुत बड़ा समूह है। उसकी दृष्टि में राष्ट्र एक बहुत बड़े जाल के सदृश है, जिसमें प्रत्येक मनुष्य को अपना स्थान ढूँढना और अपना कर्तव्य करना पड़ता है। किंतु प्लेटो एकतंत्रवादी था अथवा समाजवादी? यह प्रश्न अब भी विवादास्पद है, जिस पर राजनीतिज्ञ अभी अनिश्चित हैं। अरस्तू का मत था कि राष्ट्र समान उद्देश्यवाले तथा श्रेष्ठ जीवन चाहनेवाले लोगों का एक समाज है। हाब्स का विश्वास था कि राष्ट्र का उद्देश्य शांति-व्यवस्था स्थापित करना और संपत्ति की रक्षा करना है। लाक के मत से राष्ट्र का ध्येय था जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति की रक्षा करना। रूसो मानता था कि राष्ट्र सर्व-साधारण की इच्छा पूर्ण करने के लिये एक सामाजिक ठहराव है। हेगेल का विश्वास पुराने ग्रीक सिद्धांत पर था कि राष्ट्र विश्व में परमात्मा की सरकार है।

प्राचीन ग्रीस में स्वतंत्र नागरिक थे, किंतु वे इस प्रकार के थे कि कुछ के पास अधिकार थे और कुछ अधिकार-हीन थे, अतएव वहाँ मूलभूत सिद्धांतों की कोई सुस्पष्ट परिभाषा न थी। रोम के राजनीतिज्ञ नागरिकता के सिद्धांत से परिचित थे। किंतु अँगरेजों के मेगना-कार्टा और अधिकारों के प्रस्ताव से विश्व ने सही तौर पर समझा कि जनता के अधिकारों का क्या अर्थ होता है। मानव के अधिकारों की प्राप्ति के प्रयत्न में—उन अधिकारों की प्राप्ति में, जो जीवन के लिये अत्यावश्यक हैं, और जिनके बिना जीवन का कोई नैतिक मूल्य नहीं रह जाता—फ्रांस की क्रांति और अमेरिका की स्वतंत्रता की घोषणा का बहुत बड़ा महत्त्व है। उस समय से आज तक किसी भी महान् राष्ट्र ने बिना पहले मूलभूत अधिकारों की घोषणा किए अपना नव-विधान नहीं बनाया। हो सकता है, भिन्न-भिन्न देशों में इनका रूप भिन्न रहा हो, किंतु वे थे अवश्य।

यहाँ यह स्मरण किया जा सकता है कि कांग्रेस ने, सन् १९३१ में, जो कर्तव्य और अधिकारों के संबंध में प्रस्ताव पास किया था, वह इन्हीं सिद्धांतों पर आधारित था, और उससे कांग्रेस के नेताओं के विस्तृत दृष्टिकोण का पता चलता है। सरदार पटेल ने विधान-परिषद् में मूलभूत अधिकारों-संबंधी जिन प्रस्तावों को पेश किया, उनसे यह निःसंदेह सिद्ध हो जाता है कि भारत का दृष्टिकोण अत्यधिक विशाल, उच्च

और आधुनिक है। इसकी कल्पना उतनी ही गौरव-पूर्ण है, जितनी 'स्वतंत्रता की घोषणा' की।

समानता का सिद्धांत

मूलभूत अधिकारों में यह स्पष्टत: निहित है कि भारत के प्रत्येक नागरिक को समानता का अधिकार होगा। कोई भी व्यक्ति—चाहे वह किसी भी धर्म, जाति अथवा विश्वासवाला क्यों न हो, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष—उसका अधिकार होगा कि वह बिना बाधा के व्यापारिक स्थानों, दूकानों और भोजन-गृहों, निवास-स्थानों तथा जनता के लिये बनाए गए विनोद-गृहों में जा सके, तथा उसे कुओं, तालाबों, सड़कों, जनता के लिये बनाए उद्यान-स्थानों, तथा ऐसी जगहें, जो किसी व्यक्ति के द्वारा सर्व-साधारण के लाभ के लिये दे दी गई हों—इन सब स्थानों का उपयोग करने का अधिकार होगा। सभी नाग-रिकों को नौकरी में, व्यापार करने में, धंधे में तथा अन्य सब बातों में, क़ानून और नैतिकता का विचार करते हुए, समान अवसर तथा सुविधाएँ प्रदान की जायँगी। राष्ट्र जाति, धर्म तथा विश्वास और नर-नारी भेद के आधार पर किसी भी असमानता को स्वीकार न करेगा।

मूलभूत सिद्धांत प्रत्येक विधान-प्रेमी नागरिक को—बिना किसी जाति, धर्म, विश्वास अथवा पुरुष-स्त्री के भेद के—भाषण अथवा अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता देते हैं; साथ ही शांति-पूर्वक बिना शस्त्रों के मिलने का, संघ और सभा बनाने

का, बिना किसी विघ्न-बाधा के संघ के एक भाग से दूसरे भाग में जाने का और किसी भी भाग में बसकर रहने का अधिकार देते हैं। इस प्रकार भारतीय संघ के नागरिकों को अपनी नागरिक स्वतंत्रता का पूर्ण उपयोग करने का और हर एक मानवीय अधिकारों तथा सुविधाओं को प्राप्त करने का अवसर देते हैं—जो विदेशी साम्राज्यवादी सरकार ने उनसे छीन लिया था।

भारतवर्ष में धार्मिक संप्रदायों का प्रश्न अत्यधिक कठिन और उसकी समस्या काफ़ी जटिल है, अतएव बुद्धिमान और दूरदर्शी विधान-निर्माताओं ने धर्म-संबंधी अधिकारों को एक अलग वर्ग में ही रख दिया है। हरएक व्यक्ति को आत्मिक स्वतंत्रता तथा अपने मत-प्रसार की पूर्ण स्वतंत्रता है, तथा वह जनता की शांति-व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुए अपने धर्म का प्रचार कर सकता है। बहुत ही चतुरता और बुद्धिमत्ता-पूर्ण दृष्टिकोण से सामाजिक सुधार के लिये भी आवश्यक क़ानून बनाए गए हैं। कोई भी राष्ट्र अपने नागरिकों की भावनाओं और धर्म-प्रियता का आदर करने के लिये अधिक-से-अधिक यही कर सकता है।

अस्पृश्यता का निवारण

मूलभूत सिद्धांतों में अस्पृश्यता का निवारण सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण कार्य है। भारतीय समाज के अंदर यह जो छुआछूत का कीड़ा घुस गया है, जिसने हमारे समाज

को खोखला कर दिया है, उसे दूर करना अनिवार्य हो गया है। किसी भी रूप में अस्पृश्यता नहीं रह सकेगी। विधान के अनुसार इस कारण से किसी प्रकार की बाधा डालना बहुत बड़ा अपराध होगा, जो क़ानून की दृष्टि से दंडनीय होगा। मूलभूत सिद्धांतों में अस्पृश्यता-निवारण की इस धारा को स्थान देने के कारण हमारे विधान-निर्माता प्रशंसा के पात्र बन गए हैं। पश्चिमीय राजनीतिज्ञों ने उनके इस कार्य को सराहते हुए उनकी काफ़ी प्रशंसा की है। सबसे अधिक यह महात्मा गांधी की विजय थी, जिन्होंने अपने पूरे जीवन को अछूतों की उन्नति के लिये लगा दिया; यहाँ तक कि एक बार भूख-हड़ताल करके हरिजनों के लिये अपनी जान तक खतरे में डाल दी थी। वस्तुतः हरिजनों का प्रश्न भारतीय राष्ट्र के नाम पर एक काला धब्बा था।

असमानता को दूर करने तथा जनता के मस्तिष्क से उच्चता और हीनता की भावना को निकालने के लिये विधान-निर्माताओं ने एक जो बहुत बड़ा कार्य किया, वह था पदवियों की प्रथा को हटा देना। ब्रिटिशों ने पदवी-दान की जो प्रथा निकाली थी, उसका परिणाम यह हुआ कि इस देश में बहुत-से प्रतिक्रियावादी और ग़द्दार लोग पैदा हो गए, तथा आपसी कटुता और घृणा के भाव बढ़ गए, भारतीय जनता में विभिन्न वर्ग बन गए। वस्तुतः ब्रिटिश शासन-काल में पदवीधारी व्यक्ति ग़ैर-पदवीधारी व्यक्तियों को अछूतों की तरह समझते

थे। यह ठीक ही था कि अस्पृश्यता-निवारण के साथ ही पदवी-प्रथा को भी हटा दिया गया। भारतीय संघ की सरकार किसी को भी कोई पदवी नहीं देगी, यद्यपि यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि क़ानून के द्वारा जनता को अपने प्रिय और महान् नेता को उपयुक्त नाम अथवा पदवी देने से रोका नहीं जा सकता।

अल्पमतों के अधिकार

भारतीय संघ के अल्पमतों को यह निश्चित विश्वास दिया गया है कि उनके हितों और अधिकारों की पूर्ण रक्षा की जायगी। भारतीय संघ के प्रत्येक भाग में अल्पमतों की भाषा, लिपि और संस्कृति की रक्षा की जायगी। और, इस प्रकार के कोई भी क़ानून नहीं बनाए जायँगे, जो उनके लिये अहितकर अथवा अनुचित हों। अल्पमतवाले अपनी स्वयं की शिक्षा-संस्थाएँ खोल सकते और उन्हें जिस ढंग पर चलाना चाहें, चला सकते हैं। क़ानून द्वारा निर्धारित की गई कुछ शर्तें पूरी कर लेने के पश्चात्, सहायता आदि देने के संबंध में, सरकार इन स्कूलों तथा दूसरे स्कूलों आदि में कोई भेद न करेगी। भारतीय संघ के अल्पमतों के पास इस समय संदेह करने का कोई कारण नहीं है, न उनके पास इस बात का कोई आधार हो सकता है कि भारतीय सरकार विभेदक बर्ताव करेगी। भारत-सरकार ने उनके न्यायोचित अधिकारों की रक्षा करने का वचन दे दिया है। अब अल्पमतों का यह

पुनीत कर्तव्य हो जाता है कि वे संघ में शांति-प्रिय और राजभक्त नागरिक की तरह रहें।

संघ का विधान

विधान-परिषद् द्वारा स्वीकृत भारतीय विधान के अनुसार भारतीय संघ एक सर्वोच्च सत्ता-पूर्ण जनतंत्रवादी सरकार होगी, जिसमें ६ गवर्नर के प्रांत, ५ चीफ कमिश्नरी प्रांत और वे रियासतें रहेंगी, जो भारतीय संघ में हैं, अथवा बाद में भारतीय संघ में आने का निश्चय करेंगी। भारत के शासन के अंतर्गत अंडमान और निकोबार-द्वीप भी आते हैं। संघ की महासभा (पार्लियामेंट) के एक नियम के अनुसार पार्लियामेंट के दो भाग होंगे—एक लोक-सभा अथवा हाउस ऑफ् प्यूपिल, जो इँगलैंड की पार्लियामेंट के हाउस ऑफ् कामंस की तरह होगा ; तथा दूसरा राजसभा अथवा कौंसिल ऑफ् स्टेट के नाम से पुकारा जायगा। यह इँगलैंड के हाउस ऑफ् लॉर्ड्स की तरह होगा। संघ का एक अध्यक्ष (प्रेसीडेंट) रहेगा।

राजसभा में २५० सदस्य रहेंगे, जिनमें से १५ सदस्य अध्यक्ष द्वारा नामजद किए जायँगे। ये विज्ञान, कला, साहित्य इत्यादि के प्रतिनिधित्व के लिये नामजद किए जायँगे। शेष सदस्य प्रतिनिधि के रूप में होंगे। राजसभा को कभी भंग न किया जा सकेगा, किंतु इसके एक तिहाई सदस्य, जितने शीघ्र संभव होगा, हर दूसरे साल अलग हो जायँगे, और उनकी जगह नए सदस्य चुने जायँगे।

लोक-सभा में ५०० से अधिक प्रतिनिधि नहीं रहेंगे। ये प्रतिनिधि बालिग मताधिकार के आधार पर चुने हुए देश के प्रतिनिधि होंगे। इसमें प्रत्येक ७,५०,००० की जन-संख्या पर एक से कम प्रतिनिधि नहीं होगा, और प्रत्येक ५,००,००० की जन-संख्या पर एक से अधिक प्रतिनिधि नहीं होगा। इस सभा का कार्य-काल ५ वर्षों तक रहेगा, और ५ वर्षों के पश्चात् नए निर्वाचन होंगे। किंतु विधान में यह व्यवस्था है कि विशेष आवश्यकता के समय इस कार्य-काल को कुछ समय के लिये बढ़ाया जा सकता है, किंतु यह एक वर्ष से अधिक न होगा।

राष्ट्र का प्रधान

राष्ट्र का प्रधान होगा भारतीय संघ का अध्यक्ष (राष्ट्रपति), जिसका निर्वाचन कुछ विशेष अधिकारी व्यक्तियों द्वारा होगा। निर्वाचन-दल में दोनों सभाओं के सदस्य और रियासतों की धारा-सभाओं के निर्वाचित सदस्य रहेंगे। उसका कार्य-काल ५ वर्ष के लिये होगा, किंतु वह पुनर्निर्वाचन के लिये एक बार खड़ा हो सकता है—केवल एक बार ही। अध्यक्ष की उम्र कम-से-कम ३५ वर्ष की होनी चाहिए, और उसे संघ का नागरिक होना चाहिए। उसमें लोक-सभा के सदस्य चुने जाने के लिये आवश्यक योग्यताएँ होनी चाहिए।

संघ की सभी कार्य-कारिणी शक्तियाँ राष्ट्रपति के हाथों में रहेंगी, जिनका उपयोग वह उत्तरदायी मंत्रियों की सलाह से

किया करेगा। वह किसी भी अदालत द्वारा दी गई सजा को क्षमा करने का अधिकारी होगा। उसे यह भी अधिकार होगा कि जब राष्ट्र-सभा का अधिवेशन न हो रहा हो, और कोई विशेष आवश्यकता हो, तब वह स्वयं क़ानून बनाकर उन्हें लागू कर सके। विधान की किसी प्रकार उपेक्षा करने अथवा उसे भंग करने के अपराध में राष्ट्र-पति पर इसका अभियोग लगाकर उसका जवाब माँगा जा सकता है।

राष्ट्र-पति के साथ एक उपराष्ट्र-पति भी रहेगा। वह राज-सभा का एक्स ऑफ़िसियो अध्यक्ष होगा, और उसका निर्वाचन राजसभा और लोक-सभा के—दोनों सभा के सदस्यों द्वारा—आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अनुसार एक परिवर्तनीय मत (सिंगिल ट्रांसफ़रेबल वोट) द्वारा होगा। उसका कार्य-काल ५ वर्ष तक रहेगा। जब कभी राष्ट्र-पति का स्थान रिक्त होगा, तब उपराष्ट्र-पति उसका उस समय तक कार्य-भार सँभालेगा, जब तक दूसरे राष्ट्र-पति का निर्वाचन न हो जायगा। राष्ट्र-पति तथा उपराष्ट्र-पति के निर्वाचन-संबंधी जितने भी संदेह अथवा झगड़े आदि उठेंगे, उनकी जाँच करने तथा निर्णय देने का अधिकार सर्वोच्च अदालत (सुप्रीम कोर्ट) को होगा, और उसका निर्णय अंतिम निर्णय होगा।

संघ के मंत्रिमंडल का निर्माण ब्रिटिश ढंग पर किया जायगा। बहुमत-दल के नेता को राष्ट्र-पति द्वारा प्रधान मंत्री

बनाया जायगा, और अन्य मंत्रियों को राष्ट्र-पति प्रधान मंत्री की सलाह से नियुक्त करेगा। मंत्रिमंडल सामूहिक रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी रहेगा।

यह है स्वतंत्र, सर्वोच्च सत्ता-पूर्ण भारतीय जनतंत्रवाद का ढांचा और उसका आधार। यह पंडित नेहरू के जनतंत्रवादी स्वप्नों की पूर्ति है—वे स्वप्न, जो सन् १९२९ के लाहौर-अधिवेशन के पश्चात् से वह देख रहे थे, और जिनकी पूर्ति के लिये उन्होंने महान् त्याग किए, और अंत में अपने लक्ष्य को प्राप्त किया। वस्तुतः भारत की आनेवाली पीढ़ियाँ अत्यंत श्रद्धा और आभार के साथ दो महान् व्यक्तियों के सम्मुख मस्तक झुका लेंगी—प्रथम महात्मा गांधी, बीसवीं सदी का सबसे बड़ा क्रांतिकारी, जिसने भारत को निद्रा त्यागने पर विवश किया, तथा एक रक्त-हीन क्रांति द्वारा दो शताब्दी के विदेशी दासत्व से देश को मुक्ति दिलाई। दूसरे, पं० जवाहरलाल के सम्मुख—जो स्वतंत्रता की जीवित आवाज हैं, और जिन्होंने इस महान् भारतीय जनतंत्रवादी सरकार की नींव डाली।

स्वतंत्र भारत के प्रतीक

किसी भी राष्ट्र का ध्वज उस देश की शान और विजय का सच्चा प्रतीक होता है। भारत ने भी अपनी स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् एक नए झंडे को अपना प्रतीक बनाया। इसमें रक्त, श्वेत और हरे, तीन रंग हैं, तथा श्वेत भाग पर एक नीला चक्र है। २२ जुलाई, सन् ४७ को पंडित जवाहरलाल नेहरू

ने जोरदार हर्ष-ध्वनि के बीच झंडे का प्रस्ताव रक्खा। पंडित जवाहरलाल ने—जो वस्तुतः एक आदर्शवादी, कवि और सौंदर्य-प्रेमी हैं, और जिन्हें परिस्थिति ने यथार्थवादी बनने के लिये विवश कर दिया है—कहा—"हमने एक ऐसा ध्वज पाने का प्रयत्न किया, जो देखने में सुंदर हो, क्योंकि राष्ट्र के प्रतीक को सुंदर होना ही चाहिए। हमने यह भी सोचा कि यह ध्वज इस प्रकार का होना चाहिए, जिससे देश की परंपरा और आत्मा का प्रतिनिधित्व हो सके—उस मिश्र परंपरा का, जिसका विकास सहस्रों वर्षों से हमारे बीच हो रहा है। अतएव हमने इस ध्वज को राष्ट्रीय झंडे के रूप में चुना।"

भारत का तिरंगा झंडा वास्तव में अत्यंत सुंदर है। इसकी सबसे बड़ी सुंदरता इस तथ्य में है कि इसने भारतीय जनता का गौरव-पूर्ण नेतृत्व किया। यह तिरंगा झंडा कांग्रेस का प्रिय झंडा है। इसके नीचे जमा होकर हमने संघर्ष किया, कष्ट सहे, और अंत में गौरव-पूर्ण विजय प्राप्त करने में सफल हुए। जेलों के अंदर और बाहर हमने इसकी पूजा की। राष्ट्रीय आंदोलनों के समय इसी ध्वज के बल पर छोटे-छोटे बच्चों ने बड़े-बड़े ब्रिटिश फौजी सैनिकों का मुक़ाबिला किया। सहस्रों नर और नारियों ने, युवकों और वृद्धों ने, अमीरों और ग़रीबों ने इसके पीछे अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया। उस समय यह विद्रोह का झंडा था, और अब हमारी विजय

का प्रतीक है। झंडे के रंगों को नहीं बदला गया, क्योंकि प्रत्येक स्वतंत्रता-प्रिय व्यक्ति के लिये वे रंग पुनीत हैं।

इस सौंदर्य-पूर्ण तथा विजयी झंडे को महात्मा गांधी ने बनाया था। महात्माजी का प्रिय चरखा था—जो सत्य और अहिंसा का प्रतीक है, तथा महात्मा गांधी का भी प्रतीक था; उन महात्मा गांधी का, जिन्होंने ४० करोड़ जनता को अंधकार से निकालकर, प्रकाश में लाकर खड़ा कर दिया, तथा उसके कष्टों को दूर किया। वह चरखा अब भी स्वतंत्र भारत के ध्वज पर एक परिवर्तित रूप में विद्यमान है।

इस प्रतीक के सिवा भारतीय झंडे का चक्र अशोक का धर्म-चक्र भी है। इस चक्र से हमें सम्राट् अशोक का ध्यान आता है, जिन्होंने अहिंसा को ही अपने जीवन का धर्म बनाया। अशोक की राजधानी सारनाथ में यह चक्र शाश्वत धर्म के प्रतीक के रूप में स्थित है। इस चक्र से यह ऐतिहासिक तथ्य प्रगट होता है कि महात्मा गांधी के भारतवर्ष ने अशोक के गौरव-पूर्ण भारत का स्थान प्राप्त कर लिया है। अशोक से गांधी तक का इतिहास—एक महान् विजेता, जिसने भारतवर्ष पर न्याय और सत्य के आधार पर राज्य किया, और दूसरा महान मुक्तिदाता, जिसने देश को विदेशी सत्ता से छुड़ाया—सत्य और अहिंसा के बल से ही; २३०० वर्ष का लंबा इतिहास, विदेशी आक्रमण और विजय—अपमान और कष्ट—महान् बहादुरी के संघर्ष और त्याग—

और अंत में भारत को पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति—सभी इतिहास इसमें निहित है।

अशोक का यह चक्र भारत की आध्यात्मिकता का सबसे बड़ा प्रतीक है। यह वह नियम-चक्र था, जिसका उपदेश भगवान् बुद्ध ने दिया, और अशोक ने उसका पालन और प्रसार किया—यह उस नैतिक व्यवस्था का प्रतीक है, जिसके लिये भारत और उसकी संस्कृति को सदैव गौरव रहा है, और है।

पंडित जवाहरलाल नेहरू के उत्तेजना-पूर्ण शब्दों में—"यह झंडा साम्राज्यवाद का नहीं है, साम्राज्य का नहीं है, किसी के ऊपर शासन करने का नहीं है, अपितु यह स्वतंत्रता का झंडा है, न केवल हमारे लिये, बल्कि उन सभी के लिये स्वतंत्रता का प्रतीक है, जो इसे देखेंगे। जहाँ भी यह जायगा, वहाँ के लोगों के लिये स्वतंत्रता का संदेश बनेगा, मैत्री और सहयोगिता का संदेश देगा, यह आश्वासन देगा कि भारत विश्व के प्रत्येक देश के साथ मैत्री-पूर्ण संबंध रक्खेगा, और पराधीन देशों को स्वतंत्रता प्राप्त करने में सहायता करेगा।"

सातवाँ अध्याय

भारतवर्ष की वैदेशिक नीति

भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति के पश्चात्, अन्य उत्तरदायी कार्यों के साथ-ही-साथ, भारत की वैदेशिक नीति-निर्धारण करने का प्रश्न सामने आया। नेहरू-सरकार ने अत्यंत शीघ्रता के साथ इस महत्त्व-पूर्ण प्रश्न का हल कर लिया।

यहाँ यह स्मरण किया जा सकता है कि कांग्रेस ने, सन् १६२० के लगभग से अंतरराष्ट्रीय चेतना को महसूस करना और अंतरराष्ट्रीय बातों को महत्त्व देना आरंभ कर दिया था। आज के नेतागण उस समय भी यह जानते थे कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत की जो वैदेशिक नीति बना दी है, उससे संसार में भारत के सम्मान को धक्का लगता है, और अन्य राष्ट्रों का मत भारत के विरुद्ध होता है। विश्व भारत की वास्तविक प्रतिमा को जाने, इसी विचार से, सन् १६२१ में, लोकमान्य तिलक ने वार्सिलीज में शांति-सम्मेलन के अध्यक्ष श्रीक्लिमेंस को एक पत्र भेजा था, जिसमें उन्होंने भारत की वैदेशिक नीति का जिक्र किया था। लोकमान्य तिलक ने लिखा—"भारत आत्मनिर्भर है, दूसरे राष्ट्रों की सीमाओं से उसका कोई संबंध नहीं है, और इसको दूसरे देशों को जीतने

आदि की कोई महत्त्वाकांक्षाएँ नहीं है।" बाद में, सन् १९२७ ई० में, मदरास के कांग्रेस-अधिवेशन में, कांग्रेस की वैदेशिक नीति का प्रथम बार स्पष्टीकरण किया गया। इसमें यह कहा गया कि कांग्रेस सभी तरह के साम्राज्यवादी युद्धों का पूर्ण विरोध करेगी। बाद के होनेवाले कांग्रेस-अधिवेशनों में भी वैदेशिक नीति के इसी सिद्धांत को कई बार दुहराया गया, और कांग्रेस वस्तुतः अपने सिद्धांत पर पूर्ण रूप से अटल रही। यह उस समय स्पष्ट प्रकट हो गया, जब सन् १९३९ के महायुद्ध में कांग्रेस ने कोई भी भाग लेने से इनकार कर दिया, क्योंकि यह युद्ध दो साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच में था।

ब्रिटिश शासन के समय भारत की कोई अपनी अंतरराष्ट्रीय नीति न थी। उसका कोई अंतरराष्ट्रीय स्थान भी न था। भारत-सरकार को ब्रिटिश सरकार की एक शाखा की तरह समझा जाता था। अतएव स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् यह भारत के सामने एक मुख्य कार्य था कि कांग्रेस के सिद्धांतों का ध्यान रखते हुए तथा इस शांति-प्रेमी देश की गत परंपराओं को दृष्टि में रखकर इस नवीन राष्ट्र की वैदेशिक नीति बनाई जाती। अंतर्कालीन सरकार में वैदेशिक मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने, वैदेशिक नीति का स्पष्टीकरण करते हुए, इस कार्य को प्रारंभ किया।

पंडित जवाहरलाल नेहरू वैदेशिक मामलों के विद्वान् हैं। उन्होंने भारत को यह सिखाया कि भारत अपने संघर्ष को

विश्व की शक्तियों से संबंधित करके चलाए। १९२१ में उन्होंने अपने प्रथम राष्ट्रपति के पद से भाषण देते हुए कहा—"भारतवर्ष आज विश्व-आंदोलन का एक भाग है। मुझे इसका पूरे तौर पर विश्वास है कि भारत किसी भी प्रकार के विश्व-सहयोग अथवा विश्व सत्र का स्वागत करेगा, और यहाँ तक कि विश्व की स्वतंत्रता के लिये अपनी स्वतंत्रता का कुछ भाग परित्याग करने के लिये प्रस्तुत रहेगा।" समस्त सभ्य संसार में पंडित नेहरू को आजकल सबसे विशाल दृष्टिकोण-वाले अंतरराष्ट्रीय राजनीतिज्ञ के रूप में जाना जाता है। और, यह विश्व-शांति के लिये अत्यंत आशाप्रद समय है, जब भारत स्वतंत्र हो गया है, और पंडित नेहरू को अपने सिद्धांतों और विचारों को कार्य-रूप में परिणत करने का अवसर मिला है। उनके सिद्धांत और विचार इस राष्ट्र के सिद्धांत और विचार हैं। भारत की वैदेशिक नीति के संबंध में पंडित नेहरू ने जो प्रथम अधिकारी वक्तव्य दिया था, उसमें भारतीय राष्ट्रीयता के आधार, उच्च आदर्शवाद का समावेश था। पंडित नेहरू ने वक्तव्य में कहा—

"वैदेशिक मामलों के संबंध में भारत की अपनी एक स्वतंत्र नीति रहेगी। वह एक दूसरे की विरोधी शक्तियोंवाले दलों तथा वर्गों से सदैव दूर रहेगा। वह पराधीन जनता की मुक्ति के सिद्धांत को मानेगा, और जहाँ कहीं भी जाति-भेद होगा, उसका पूर्ण विरोध करेगा। वह विश्व के दूसरे शांति-प्रेमी राष्ट्रों

के साथ मिलकर अंतरराष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना के लिये—बिना किसी राष्ट्र का शोषण किए—सदैव प्रयत्न करेगा।" भारत का संयुक्त राष्ट्र-संघ के प्रति क्या रुख रहेगा, इसको बताते हुए पंडितजी ने कहा—"संयुक्त राष्ट्र-संघ के प्रति भारत का रुख पूर्ण हार्दिक सहयोग का और शुद्ध हृदय से मिलकर काम करने का रहेगा। उसकी घोषणा के अनुसार भारत सभी तरह से सहयोग करेगा। भारत इसके सभी कार्यों में रुचि के साथ भाग लेगा, और संघ की विशेष समिति (काउंसिल) में—जहाँ उसको उसकी भौगोलिक स्थिति या जन-संख्या के कारण भाग लेने का अधिकार होगा—भाग लेने का प्रयत्न करेगा।" स्पष्टतः, दूसरे देशों के राष्ट्रवाद के बारे में कोई कुछ भी क्यों न कहे, किंतु भारत का राष्ट्रवाद सदैव उच्चादर्शों से ही प्रेरित रहा है, न कि घृणा और असहनशीलता से। वस्तुतः भारत के राष्ट्रवाद का आधार सदैव शांति का आदर्श, विश्व-सहयोग, अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा और सभी उपनिवेशों और पराधीन राष्ट्रों की जनता की स्वाधीनता आदि रहे हैं, इसीलिये भारत की वैदेशिक नीति इस प्रकार की बनाई जाना आवश्यक और स्वाभाविक ही था।

वर्तमान काल में, जब कि भारत को अंतरराष्ट्रीय मामलों में बहुत बड़ा भाग लेना है, संसार की समस्याएँ अत्यधिक जटिल और व्यग्रता-पूर्ण बन गई हैं। यह एक वस्तुतः बहुत बड़ी दुःखांत घटना है कि ध्वस्त विश्व के खँडहर पर आज

जिस संसार का पुनः नवनिर्माण हो रहा है, वह भी क्रूर, घृणा और द्वेष तथा कुप्रतियोगिता के आधार पर बन रहा है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् के संसार को जिस प्रकार दूसरे महायुद्ध का सदैव भय लगा रहता था, उसी प्रकार यह नवीन विश्व भी उस भय से रहित नहीं है। केवल एक अंतर है कि हम लोग उस आशा से रहित हैं, जो प्रथम महायुद्ध के पश्चात् के लोगों को थी। संयुक्त राष्ट्रों की सभी बातचीतों और विचारों के पीछे से अणुबम (अटम बम) झाँकता रहता है। इसके सिवा साम्राज्यवादी अपना शैतानी पंजा बढ़ाता चला जा रहा है—उन राष्ट्रों के ऊपर भी, जो कायरता-पूर्वक विदेशी दासत्व को सहन करने के अभ्यस्त अब नहीं रहे। फ्रांसीसी साम्राज्यवाद जिस प्रकार के अत्याचार-पूर्ण कार्य फ्रांस में तथा डच साम्राज्यवादी हिंद-एशिया में कर रहे हैं, वे कार्य इन साम्राज्यवादी शक्तियों की मनोवृत्ति के उदाहरण हैं। ब्रिटेन का मजदूर-दलीय शासन—जो अपने को स्वतंत्रता का प्रतीक मानता है—सदैव से इन साम्राज्यवादी राष्ट्रों की सहायता करता रहा है। अमेरिका बिना किसी बात का विचार किए अपनी 'डालर-नीति' के प्रसार में व्यस्त है, और वह किसी भी ऐसे कार्य में सहयोग न देगा, जो उसकी आर्थिक योजनाओं को हानि पहुँचाए। अरब देशों की समस्या इस प्रकार उलझा दी गई है कि उसके बारे में कुछ कह सकना संभव नहीं। लाल सागर और स्वेज नहर पर अपना अधिकार

बनाए रखने के लिये ब्रिटेन एक दीर्घ काल से मुसलिम संसार का विभाजन करने के लिये प्रयत्नशील है। फ़ारस, तुर्की, लेबेनन और अफ़ग़ानिस्तान को ब्रिटिशों की खुली सहायता मिल रही है, और वे अरब-संघ में सम्मिलित होने के इच्छुक नहीं प्रतीत होते। फ़िलिस्तीन का भाग्य अभी पूर्णत: अनिश्चित है, और कोई भी नहीं कह सकता कि अरबों और यहूदियों के संघर्ष का क्या परिणाम होगा।

आज विश्व की राजनीति इस प्रकार उलझी हुई है, जिसमें भारत को एक गौरव-पूर्ण भाग लेना है, एक स्वतंत्र राष्ट्र के अनुकूल ही। किंतु भारत के प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने बहुत बुद्धिमानी तथा दूरदर्शिता से कुछ ऐसे सिद्धांतों को अपनी नीति का आधार बनाया है, जो किसी भी विषम परिस्थिति तथा उलझी हुई समस्या में भी भारत के सम्मान की रक्षा करेंगे, और उसकी प्रतिज्ञाओं का निर्वाह करेंगे। ये सिद्धांत निम्न-लिखित हैं—

(१) अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भारत अत्यंत सावधानी के साथ विरोधी दलों से संबंध न रखता हुआ स्वतंत्र नीति पर काम करेगा।

(२) भारत अपनी सेनाओं तथा साधनों का उपयोग विश्व के किसी भी भाग में साम्राज्यवाद की रक्षा अथवा उसकी सहायता करने के लिये न होने देगा।

(३) भारत 'महाशक्तियों के ऐक्य' के सिद्धांत को स्वीकार

करेगा, किंतु इसे एक अंतिम आदर्श के रूप में नहीं, प्रत्युत युद्ध की संभावना को कम करने के लिये दूसरे देशों के साथ सहयोग करने के रूप में मानेगा।

विश्व के सभी बड़े-बड़े देशों में राजनीतिक दूतावासों की स्थापना करना वास्तव में, भारत के वैदेशिक विभाग का एक महत्त्व-पूर्ण कार्य है। विदेशों में हमारे राजदूतों का कार्य दो प्रकार का है—पहला कार्य यह है कि उन देशों की जनता के सामने भारतीय स्थिति तथा उसके विचारों और अंतर-राष्ट्रीय नीति का सच्चा चित्र रक्खें, क्योंकि अभी तक वहाँ की जनता भारत के बारे में साधारण बातों से भी परिचित नहीं थी। इसके उत्तरदायी ब्रिटिश शासक हैं। उन्होंने विश्व के सभी देशों में भारत के संबंध में ग़लत और अनुचित प्रचार किया, जिससे भारत की प्रतिष्ठा को धक्का लगा, किंतु साम्राज्य-वादी शक्तियों को बल प्राप्त हुआ। दूसरा कार्य यह है कि वे केवल भारत के आर्थिक तथा दूसरे हितों की रक्षा करने का ही प्रयत्न न करें, बल्कि विश्व को ऐसे संघ बनाने में योग दें, जिनमें परस्पर सद्भावना और मैत्री के आधार पर विश्व के राष्ट्र शामिल हों, जिससे विश्व की शांति-पूर्ण व्यवस्था, समानता तथा मैत्री की स्थापना हो सकेगी। निःसंदेह, इस प्रकार के कार्य में योग दे सकने में स्वतंत्र भारत पूर्णतः समर्थ है, और पंडित जवाहरलाल नेहरू के सुयोग्य संचालन में वह इसे और अच्छी तरह कर सकता है।

एशिया का नेता भारत

भारतवर्ष एशिया ही का एक भाग है, और एशिया की जनता स्वभावतः उसके अधिक सन्निकट है, तथा उसे अधिक प्रिय है। भारत की भौगोलिक स्थिति इस प्रकार की है कि वह पश्चिमीय, दक्षिणीय और दक्षिण-पूर्वीय एशिया का केंद्र है। भूतकाल में भारतीय संस्कृति का इन सभी देशों में प्रसार हुआ, और कई प्रकार से इसने उन देशों की संस्कृति को प्रभावित किया। अब भारत आज़ाद हो गया है, और विश्व के देशों में उसको गौरव-पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त हो रही है, तब आवश्यक है कि एशियाई देशों के साथ उसके पुराने संबंधों को पुनः चालू किया जाय। साथ ही अफ़ग़ानिस्तान, ईरान और अरब राष्ट्रों के साथ उसके मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित हों। महान् राष्ट्र चीन युगों से भारतवर्ष का पड़ोसी और मित्र रहा है, अतः उन संबंधों का पुनः विकास होना चाहिए। वास्तव में आवश्यकता इस बात की है कि सभी एशियाई राष्ट्रों को एक साथ आकर सम्मिलित होना चाहिए, और साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद को समाप्त करके एशिया के प्रत्येक भाग में स्वतंत्रता की स्थापना करनी चाहिए। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये भारत को दृढ़ निश्चय और जोश के साथ प्रयत्न करना चाहिए।

भारत के प्रधान मंत्री पंडित नेहरू ने, एशियाई राष्ट्रों के संबंध में, एक घोषणा में कहा है—"जहाँ तक उसके (भारत के)

पड़ोसियों का संबंध है, यह देश फ़िलिस्तीन, ईरान, हिंद एशिया, चीन, स्याम और हिंद चीन तथा अन्य एशियाई देशों की घटना में विशेष रुचि प्रदर्शित करेगा, और वहाँ की जनता को आंतरिक शांति प्राप्त करने तथा स्वतंत्रता (जहाँ वह न हो) प्राप्त करवाने और विश्व के अन्य राष्ट्रों के बीच उन्हें उनका उचित स्थान प्राप्त करने में सहायता देगा।"

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में जवाहरलाल का दृष्टिकोण पूर्णतः स्पष्ट और ठोस रहा है। विश्व में होनेवाली घटनाओं में उनकी अभिरुचि से तथा विश्व के महत्त्व-पूर्ण व्यक्तियों और दलों से उनकी व्यक्तिगत मैत्री के कारण—विशेषकर एशियाई देशों से—भारत का अंतरराष्ट्रीय महत्त्व काफ़ी अधिक बढ़ गया है, और इसीलिये यह एशियाई राष्ट्रों का नेता बन गया है।

पंडित नेहरू हृदय से एशियाई राष्ट्रों की मैत्री और उनमें परस्पर सद्भावनाओं का विकास चाहते हैं। उनमें एशियाई राष्ट्रों का नेतृत्व करने की योग्यता और सामर्थ्य है. इसकी पुष्टि उसी समय हो गई थी, जब सन् ४७ में पंडित नेहरू ने दिल्ली में एशियाई राष्ट्रों का एक सम्मेलन बुलवाया। यह सम्मेलन मार्च, सन् ४७ में आयोजित किया गया, और इसमें एशिया के ४० राष्ट्रों के चुने हुए प्रतिनिधियों ने उत्साह से भाग लिया। इस सम्मेलन ने निःसंदेह रूप से यह प्रकट कर दिया कि एशिया की जनता ने पूर्व के देशों में एकता स्थापित

करने का निश्चय कर लिया है। इस एकता का आधार होगा सांस्कृतिक एकता तथा आर्थिक पुष्टता। यह सम्मेलन एक राजनीतिक सम्मेलन न था, प्रत्युत विशेषतः एक सामाजिक सम्मेलन था। एशियाई राष्ट्रों के सम्मेलन की परिषद् के अध्यक्ष-पद के लिये एकमत से पंडित नेहरू को निर्वाचित किया जाना इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि एशियाई राष्ट्रों का यह विश्वास है कि इस संकट-काल में भारत ही उन्हें उन्नति और विकास के लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ हो सकेगा।

भारत के पास वस्तुतः इस कार्य के लिये आवश्यक शक्ति और योग्यता है भी, और वह किसी भी एशियाई राष्ट्र की संकट के समय सदैव सहायता करने के लिये प्रस्तुत है। यह तथ्य इसी से सिद्ध हो जाता है कि जुलाई, १६४७ में जब डच साम्राज्यवादी हिंद-एशिया की हत्या करने पर तुले हुए थे, तब पंडित नेहरू ने भारत के पर-राष्ट्र-मंत्री की हैसियत से इस प्रश्न को शीघ्र संयुक्त राष्ट्र-संघ के सम्मुख पेश किया। सुरक्षा-समिति के अध्यक्ष को पंडित नेहरू ने लिखा—"मैं, भारत-सरकार की ओर से, बड़े सम्मान-पूर्वक, सुरक्षा-समिति के अध्यक्ष का ध्यान, संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र के पहले पैराग्राफ की ३४वीं धारा के अनुसार, हिंद-एशिया की स्थिति की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ। पिछले कुछ दिनों से डच सेनाओं ने बिना किसी चेतावनी के हिंद-एशिया की जनता पर एक बहुत बड़े पैमाने पर सैनिक कार्यवाही प्रारंभ कर दी है। ये

हमले बिना किसी चेतावनी के उस समय प्रारंभ किए गए थे, जब कि हिंद-एशियाई प्रजातंत्र का प्रतिनिधि-मंडल बटाविया में उच्च अधिकारियों के साथ लिंगड-जाति से समझौते के संबंध में बातचीत करने के लिये आया हुआ था। भारत-सरकार की राय में यह परिस्थिति निश्चय ही विश्व-शांति के लिये घातक और खतरनाक है, जिसका उल्लेख घोषणा-पत्र के ३४वें लेख में किया गया है।

"अतएव भारतीय सरकार सुरक्षा-समिति से प्रार्थना करती है कि वह इस स्थिति को शीघ्रातिशीघ्र समाप्त करने के लिये घोषणा-पत्र के अनुसार आवश्यक कार्यवाही करे।

"भारत-सरकार को आशा है कि परिस्थिति की आवश्यकता को देखते हुए सुरक्षा-समिति शीघ्रातिशीघ्र इस संबंध में विचार करेगी।"

दर असल एशिया की जनता को इस तथ्य में कोई भी संदेह न होना चाहिए कि यदि एशिया के किसी देश पर आक्रमण होता है, तो भारत सर्वप्रथम अपनी आवाज उसके विरुद्ध अवश्य उठाएगा, और अपने पड़ोसी राष्ट्रों की स्वतंत्रता तथा रक्षा के लिये वह अपने सब साधनों और शक्ति को लगा देगा।

नेहरू का सिद्धांत

कई शताब्दियों से साम्राज्यवादियों ने एशियाई देशों का उपयोग शतरंज के मुहरों के सदृश किया है। पश्चिमीय राष्ट्रों

ने सदैव उनकी सीमाओं का अतिक्रमण किया है। जब से योरप में आधुनिक सभ्यता फैली है, तब से आज तक शायद ही कोई ऐसा समय रहा होगा, जब किसी एक या दूसरे एशियाई देश पर किसी योरपीय राष्ट्र का अधिकार न रहा हो, और उसकी सेनाएँ उस देश में उपस्थित न रही हों। भारत स्वयं ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के क़ब्ज़े में रहा है, जिन्होंने उसे दो शताब्दियों तक पराधीन बनाए रक्खा। और कब तक एशिया इन आक्रमणकारियों का यह बर्ताव सहन कर सकता था। एशियाई देशों में पश्चिमीय साम्राज्यवाद का यह खुला मार्ग रोकने के लिये एक निश्चित योजना की आवश्यकता थी। और, सिवा स्वतंत्र भारत के नेताओं के और कौन यह महान् कार्य कर सकने में समर्थ था।

पंडित जवाहरलाल ने ६ अगस्त, १६४७ को घोषित किया कि किसी भी एशियाई देश पर यदि विदेशी सेनाओं ने किसी भी प्रकार का हमला किया, तो भारत उसे कभी सहन न कर सकेगा। मनरो-सिद्धांत ने अमेरिका को १०० वर्षों तक विदेशी हमले से बचाए रक्खा। अब वह समय आ गया है कि एशियाई राष्ट्रों की रक्षा के लिये भी कोई इसी प्रकार का सिद्धांत बनाया जाय।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रेसीडेंट मनरो ने जो सिद्धांत निकाला, वह कोई वैधानिक लिखा-पढ़ी या घोषणा अथवा अंतरराष्ट्रीय क़ानून का कोई भाग न था। उस सिद्धांत

के द्वारा किसी भी वैदेशिक शक्ति द्वारा अमेरिकन राष्ट्रों पर हमला करने का तीव्र विरोध किया गया था, तथा पश्चिमीय गोलार्ध में यदि कोई ग़ैर अमेरिकन शक्ति कोई भूमि अपने अधिकार में करे, तो उसके विरोध का भी निश्चय किया गया था। उस समय से, बिना इसका विचार किए कि अमेरिका के लिये कोई खतरा है अथवा नहीं, आज तक वह सिद्धांत अमेरिका का एक मुख्य राष्ट्रीय सिद्धांत रहा है। प्रेसीडेंट मनरो के पश्चात् भी इस सिद्धांत का पूर्ववत् ही महत्त्व बना रहा।

१९०१ में प्रेसीडेंट थियोडर रूजवेल्ट ने यह घोषित किया कि "मनरो-सिद्धांत विश्व के किसी भी देश से शत्रुता करने के लिये नहीं बनाया गया, और न यह किसी शक्ति-विशेष के आक्रमण को ढाँकने का प्रयत्न है। यह केवल एक क़दम है—एक क़दम, जिससे विश्व के इस गोलार्ध में शांति स्थापित हो सकेगी, और इसके साथ ही विश्व में भी शांति-स्थापना में सहायता प्राप्त होगी।" बाद में प्रेसीडेंट वुड्रो विल्सन ने इस सिद्धांत का स्पष्टीकरण करते हुए कहा—"मनरो-सिद्धांत अमेरिका ने स्वयं अपने अधिकार से निकाला था। यह सदैव रहा है, और सदैव रहेगा अमेरिका के उत्तर-दायित्व पर।" उदाहरण के लिये यह कहा जा सकता है कि मनरो-सिद्धांत के अनुसार अमेरिका पनामा नहर पर किसी भी वैदेशिक शक्ति का अधिकार नहीं होने देता, और न उसका

प्रयत्न ही करने देता है। आज के विश्व में अमेरिका का बहुत बड़ा स्थान है। इसका एक बहुत बड़ा कारण है कि अमेरिका पूर्ण रीति से मनरो-सिद्धांत का पालन करता है, और उसकी व्यवस्था को पूरी कड़ाई के साथ मानता है।

इससे स्पष्ट है कि नेहरू-सिद्धांत को भी किसी और तरीके से नहीं समझाया जा सकता, सिवा उस तरह से, जिस तरह प्रेसीडेंट रूजवेल्ट ने मनरो-सिद्धांत को समझाया था। भारत भी किसी भी देश के साथ शत्रुता-पूर्ण बर्ताव नहीं करना चाहता, किंतु साथ ही वह किसी भी एशियाई देश में अमेरिकन अथवा योरपीय सेनाओं की उपस्थिति को सहन नहीं कर सकता। भारत अधिक-से-अधिक शक्ति-संग्रह कर सकता है। वह इस शक्ति द्वारा एशियाई राष्ट्रों को अपनी रक्षा में सहायता पहुँचाना चाहता है, और इस प्रकार विश्व के इस भाग में शांति की स्थापना करना चाहता है।

इसमें संदेह नहीं कि मनरो-सिद्धांत की तरह यदि केवल भारत के लिये किसी सिद्धांत की माँग की जाती, तो अवश्य एक संकुचित दृष्टिकोणवाला सिद्धांत होता, और यह भारत के तथाकथित अंतर एशियाई संबंध के सिद्धांत के विरुद्ध होता। किंतु हिंद एशिया में डच साम्राज्यवादियों के अनावश्यक आक्रमण से इस प्रकार के सिद्धांत की आवश्यकता सभी को प्रतीत होने लगी है। ऐसा होना असंभव है कि भारत स्वतंत्र हो, और हिंद एशिया परतंत्र; एशिया अर्ध-स्वतंत्र

और अर्ध-परतंत्र नहीं रह सकता। पश्चिमीय शक्तियाँ अब भी एशिया के कुछ भागों में अपना आधिपत्य जमाए हुए हैं। वे अपनी पुरानी साम्राज्यवादी तरकीबों और चालों को अब भी काम में ला रही हैं। कुछ देशों में वे आंतरिक झगड़े तथा उलझनें पैदा करवा रही हैं, तथा अपना आर्थिक प्रभाव डालना चाहती हैं। यह एशिया के स्वतंत्र देशों की स्वतंत्रता के लिये तथा जो राष्ट्र स्वतंत्र नहीं हैं, उनके लिये भी एक निश्चित खतरा है। इसीलिये भारतवर्ष के प्रधान मंत्री पंडित जवाहर-लाल ने 'विश्व को समयोचित चेतावनी दी कि यदि किसी एशियाई देश में योरपीय अथवा अमेरिकन सेनाएँ रहीं, तो भारत इसे संपूर्ण एशिया के लिये खतरा समझेगा। इस तथ्य को प्रकट कर देना-मात्र ही इस दिशा में पहला क़दम है। यदि एशिया में स्वतंत्रता और शांति-व्यवस्था की स्थापना होती है, तो समस्त एशियाई राष्ट्रों की जनता का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह एक साथ आकर मिलें, और 'नेहरू-सिद्धांत' का समर्थन और उससे सहयोग करे।

इतने दीर्घ काल से भारत अपनी स्वतंत्रता के संघर्ष में भीषण रूप से व्यस्त रहा है, अपने हृदय और आत्मा से। किंतु इन दिनों में भी भारत एक क्षण के लिये भी अपने बड़े उद्देश्य, महान् कार्य को नहीं भूला। वह कार्य है—विश्व में एक शांति-पूर्ण और समान सहयोगिता की व्यवस्था की स्थापना करना।

और, अब उसने अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है। उसने आनेवाले एक नए शांति-पूर्ण युग की घोषणा कर दी—इस जय-घोष के चारों ओर एशिया की जनता एकत्र होगी, और भारत उसका निश्चित ही नेतृत्व करेगा।

जय हिंद

पृष्ठ-भाग (अ)

अगस्त-मास और भारतीय इतिहास

अगस्त-मास का भारतीय इतिहास में बहुत बड़ा महत्त्व है। हमारे इतिहास में इस महीने में कई स्मरणीय घटनाएँ हुई हैं; उनका दिग्दर्शन करा देना यहाँ काफ़ी रोचक होगा।

अगस्त, १६५९

३० अगस्त, १६५९ को औरंगज़ेब की आज्ञा से दारा शिकोह को मृत्यु-दंड दिया गया। दारा बादशाह शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र था, और उसकी मृत्यु देश के लिये एक दुर्भाग्य थी। उसका धार्मिक दृष्टिकोण बहुत विस्तृत था। वह हिंदुओं से घृणा न करता था। उसने कई उपनिषदों का फ़ारसी-भाषा में अनुवाद किया था। यदि औरंगज़ेब की जगह भारत का बादशाह दारा हुआ होता, तो शायद भारतीय इतिहास की धारा दूसरी ओर मुड़ गई होती। किंतु दारा के भाग्य में शायद मृत्यु-दंड ही था।

अगस्त, १७६५

१२ अगस्त, सन् १७६५ को क्लाइव ने शाहआलम से बंगाल की दीवानी की सनद प्राप्त की। बहुत थोड़े-से व्यक्ति

उस समय यह जानते होंगे कि इस साधारण-से लेख-पत्र का क्या महत्त्व हो सकता है।

अगस्त, १७७५

इस सन् में महाराज नंदकुमार पर अँगरेजों ने धोखेबाजी का अभियोग लगाकर उनको प्राण-दंड दिया। यह काम तत्कालीन गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज द्वारा किया गया था। महाराज नंदकुमार को ५ अगस्त, सन् १७७५ को फाँसी का दंड दिया गया था। ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्य बर्क ने वारेन हेस्टिंग्ज पर जो अत्याचार के अभियोग लगाए थे, उनका मुख्य आधार यही घटना थी।

अगस्त, १८००

१८ अगस्त, सन् १८०० को यह कहा गया कि ईस्ट इंडिया कंपनी के नौकर केवल एक व्यापारिक कारोबार के कार्यकर्ता-मात्र नहीं हैं, बल्कि वे भारत में ब्रिटिश शासन के दूत हैं, जिनका यह पुनीत कार्य है कि वे भारत में अच्छी और उन्नतिशील सरकार की स्थापना में योग दें। कलकत्ते के एक कॉलेज में विद्यार्थियों के सामने सर्वप्रथम वेलसले ने यह आदर्श रक्खा। इस आदर्श से पहलेपहल ब्रिटेन में असंतोष प्रकट किया गया था।

अगस्त, १८२३

इस सन् में भारत का गवर्नर जनरल वेंटेन अम्हर्स्ट बनाया गया, जो शासन-कार्य के लिये पूर्णतः अयोग्य था। इसी

प्रकार सन् १७९३ में सर जॉन शोर नाम का एक पूर्णतः अयोग्य व्यक्ति गवर्नर जनरल बनाया गया था।

अगस्त, १८५८

प्रथम भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के पश्चात् इस सन् में ब्रिटिश सरकार ने कंपनी के हाथों से भारत का शासन ले लिया। किंतु इस परिवर्तन का भारतीयों के लिये कोई विशेष अर्थ न था, क्योंकि भारत पर पूर्ववत् ही ब्रिटिश अधिकारियों का अत्याचार-पूर्ण शासन बना रहा।

अगस्त, १९१७

भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में अगस्त-मास का २०वीं शताब्दी में भी काफी महत्त्व रहा है। २० अगस्त, सन् १९१७ को मांटेग्यू के प्रसिद्ध घोषणा-पत्र में कहा गया कि भारत में उत्तर-दायी सरकार की स्थापना के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा स्वायत्त शासन की स्थापना की जाय।

अगस्त, १९३२

४ अगस्त, १९३२ को ब्रिटेन के प्रधान मंत्री मैकडानल्ड ने गोल मेज़-परिषद् में 'सांप्रदायिक निर्णय' दिया। उसी समय 'गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट' को संधि-चर्चाओं का आधार बनाया गया, जिसे शाही स्वीकृति २ अगस्त, सन् ३५ को मिली।

अगस्त, १९४२

८ अगस्त, सन् १९४२ का दिवस भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम

के इतिहास में सबसे महत्त्व-पूर्ण है। इस दिन बंबई में अखिल भारतीय कांग्रेस-महासमिति ने अपना प्रसिद्ध और ऐतिहासिक प्रस्ताव—'भारत छोड़ो'—पास किया। इस प्रस्ताव द्वारा ज़ोरदार शब्दों में ब्रिटिश नौकरशाही से कह दिया गया था कि अब वह इस देश को छोड़ दे।

९ अगस्त को सभी कांग्रेस-नेता बंदी बना लिए गए, और उस दिन देश के स्वतंत्रता-संग्राम की अंतिम लड़ाई का प्रारंभ हुआ। लाखों भारतीय ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध में खड़े हो गए, और सहस्रों नर-नारियों ने स्वतंत्रता की बलि-वेदी पर अपना सर्वस्व त्याग दिया।

अगस्त, १९४६

१२ अगस्त, १९४६ को पंडित नेहरू को लॉर्ड वेवल ने अंतर्कालीन सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया।

अगस्त, १९४७

आनेवाली पीढ़ियाँ १५ अगस्त, सन् ४७ को मुक्ति-दिवस के नाम से स्मरण करेंगी। इस ऐतिहासिक दिन को २०० वर्षों का ब्रिटिश राज्य समाप्त हो गया, और उसकी जगह एक नए युग का प्रारंभ हुआ।

वस्तुतः अगस्त-मास का भारतीय राजनीति में विशेष स्थान है।

पृष्ठ-भाग (ब)

भारत की राजनीतिक घटनानुक्रमणिका

सन् १६००	ईस्ट इ'डिया कंपनी की स्थापना।
१६६१	कथरीन ऑफ् ब्रेगांजा के दहेज में अँगरेजों को बंबई-प्रदेश मिला।
१६६०	अँगरेजों ने कलकत्ते को बसाया।
१७५७	प्लासी का युद्ध, जिससे बंगाल में ब्रिटिश शासन का आरंभ हुआ।
१७६०	वांडीवाश का युद्ध (फ्रांसीसी शक्ति की समाप्ति)
१७६१	पानीपत का युद्ध (मरहटों का अंत)
१७७४	वारेन हेस्टिंग्ज प्रथम गवर्नर जनरल बनाया गया।
१७८४	पिट के क़ानून मे बोर्ड ऑफ् कंट्रोल की स्थापना।
१७६४	बंगाल में स्थायी प्रबंध (परमानेंट सेट्लिमेंट)
१८२७	भारतीय को जूरी बनने का अधिकार मिला।
१८२८	राजा राममोहन राय ने ब्राह्मो समाज की नींव डाली।

सन् १८३२	मैकाले द्वारा अँगरेज़ी-शिक्षा की नींव।
१८५४	प्रथम धारा-सभा की स्थापना।
१८५७-५८	भारतीय स्वतंत्रता का प्रथम युद्ध, जिसे ब्रिटिशों ने 'ग़दर' नाम दिया।
१८५८	ईस्ट इंडिया कंपनी की समाप्ति। भारतीय शासन ब्रिटिश सम्राट् के हाथ में चला गया। सम्राज्ञी का वक्तव्य।
१८६२	भारतीय सिविल सर्विस, भारतीय हाईकोर्ट तथा भारतीय कौंसिल-संबंधी क़ानूनों का ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा निर्माण।
१८७७	महारानी विक्टोरिया भारत की सम्राज्ञी बनीं। भारत में सम्राज्ञी की जुबली मनाई गई।
१८८५	भारतीय कांग्रेस की स्थापना (२८ दिसंबर)
१९०५	बंगाल का विभाजन (आतंकवाद का प्रारंभ)
१९०९	भारतीय धारा-सभा-संबंधी क़ानूनों का निर्माण, जिनसे धारा-सभाएँ अधिक विस्तृत हो गईं।
१९११	प्रथम बार अँगरेज़ बादशाह भारत आया।
१९१२	कलकत्ता से हटकर देश की राजधानी दिल्ली गई।
१९१४-१९	प्रथम महायुद्ध।

सन् १६१८	मांटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड-रिपोर्ट ।
१६१६	रौलट ऐक्ट पास किया गया। जलियाँवाला बाग़ का हत्याकांड। (१३ एप्रिल)
१६२०	गांधीजी द्वारा असहयोग-आंदोलन का प्रारंभ.
१६२१	मोपला-विद्रोह, प्रिंस ऑफ़् वेल्स का भारत आगमन।
१६२२	चौरीचौरा-हत्याकांड, बारडोली का प्रस्ताव, महात्मा गांधी की गिरफ़्तारी, मुक़दमा और जेल।
१६२४	स्वराज्य-पार्टी का धारा-सभा में प्रवेश।
१६२५	डॉक्टर चितरंजनदास की मृत्यु।
१६२६	करसी कमीशन द्वारा रुपए का स्वर्ण-अनुपात-निर्धारण. १ रुपए का अनुपात १ शिलिंग, ६ पेंस।
१६२७	सर जॉन साइमन की अध्यक्षता में एक कमीशन की नियुक्ति।
१६२६	लाहौर के कांग्रेस-अधिवेशन में भारत की पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव पास हुआ। (७ एप्रिल)
१६३०	१ एप्रिल को कांग्रेस द्वारा सविनय अवज्ञा-आंदोलन। १२ नवंबर को गोल मेज़-परिषद् की सभा।

सन् १९३१	४ मार्च, गांधी-इरविन-समझौता। गोल मेज-परिषद् का दूसरा सम्मेलन, जिसमें गांधीजी भी कांग्रेस के प्रतिनिधि थे।
१९३२	कांग्रेस का दमन।
१९३४	रिजर्व बैंक-ऐक्ट पास हुआ। भारतीय नौ-सेना का प्रारंभ।
१९३५	गवर्नमेंट ऑफ् इंडिया ऐक्ट पास हुआ। उड़ीसा और सिंध को भिन्न प्रांत बनाया गया।
१९३७	नए विधान के अनुसार सभी प्रांतों को प्रांतीय स्वतंत्रता। कांग्रेस द्वारा ८ प्रांतों में मंत्रिमंडलों की स्थापना।
१९३९	द्वितीय विश्व-युद्ध (१ सितंबर), कांग्रेस द्वारा युद्ध का विरोध तथा बिना उसकी इच्छा के भारत को सम्मिलित कर लेने का तीव्र विरोध। कांग्रेस-मंत्रिमंडलों द्वारा त्याग-पत्र।
१९४०	कांग्रेस-कार्यकारिणी द्वारा पूर्ण स्वतंत्रता की माँग और भारत में एक स्थायी राष्ट्रीय सरकार की माँग। मुसलिम लीग द्वारा लाहौर-अधिवेशन के पाकिस्तान-प्रस्ताव की पूर्ति की माँग।

सन् १९४२ भारत ने क्रिप्स-प्रस्तावों को ठुकरा दिया। 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास किया गया। (८ अगस्त) कांग्रेस के नेताओं की गिरफ्तारी। (९ अगस्त) कांग्रेस के अंतिम संघर्ष का प्रारंभ। जनरल मोहनसिंह द्वारा सिंगापुर में पहली आज़ाद हिंद फौज का निर्माण।

१९४३ भारत-भर में विद्रोह। सिंगापुर में नेताजी सुभाषचंद्र बोस द्वारा दूसरी आज़ाद हिंद फ़ौज का निर्माण। आग़ाख़ान महल में महात्मा गांधी का २१ दिनों का ऐतिहासिक उपवास।

१९४४ महात्मा गांधीजी को जेल से छोड़ दिया गया।

१९४५ कांग्रेस-कार्यकारिणी समिति के सदस्यों की जेल-मुक्ति। वेवेल-योजना के आधार पर शिमला-सम्मेलन की असफलता। आज़ाद हिंद फ़ौज के मुक़दमे।

१९४६ मंत्रिमिशन का भारत आगमन और स्वतंत्रता देने का वचन। अंतर्कालीन सरकार की स्थापना। (२ सितंबर) विधान-परिषद् का प्रथम अधिवेशन। (९ दिसंबर)

सन १९४७ लॉर्ड माउंटबेटेन की वायसराय पद पर नियुक्ति। (२४ मार्च) ब्रिटिश सरकार की अंतिम योजना की घोषणा। (३ जून) भारत में ब्रिटिश राज्य की समाप्ति और भारतीयों को सत्ता हस्तांतरित कर दी गई। (१५ अगस्त)

पृष्ठ-भाग (स)

भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के संचालक

भारतीय कांग्रेस आज जो कुछ है, उसे इस रूप में लाने के लिये कई महान् व्यक्तियों ने अत्यधिक परिश्रम किया है। जिन व्यक्तियों ने समय-समय पर इसका संचालन किया है, यहाँ उनके नाम दिए जा रहे हैं—

कांग्रेस के अध्यक्ष (राष्ट्रपति)

डब्ल्यू० सी० बनर्जी	बंबई १८८५, प्रयाग १८९२
दादाभाई नौरोजी	कलकत्ता १८८६, १९०६, लाहौर १८९३
बदरुद्दीन तैयबजी	मदरास १८८७
जॉर्ज यूल	प्रयाग १८८८
सर विलियम वेडेनबर्न	बंबई १८८९, प्रयाग १९१०
पी० एम्० मेहता	कलकत्ता १८९०
पी० अनंत चालू	नागपुर १८९१
ए० वेब	मदरास १८९४
एस्० एन० बनर्जी	पूना १८९५, प्रयाग १९०२
एम्० आर० सयानी	कलकत्ता १८९६

सर शंकरन नायर	अमरावती १८९७
आनंदमोहन बोस	मद्रास १८९८
आर० सी० दत्त	लखनऊ १८९९
एन्० सी० चंदावरकर	लाहौर १९००
डी० ई० वाचा	कलकत्ता १९०१
लालमोहन घोस	मद्रास १९०३
सर एच्० काटन	बंबई १९०४
सी० के० गोखले	बनारस १९०५
रासबिहारी घोस	सूरत १९०७, मद्रास १९०८
पंडित मालवीय	लाहौर १९०९, दिल्ली १९१८
बी० एन्० धर	कलकत्ता १९११
आर० एन्० मुधलकर	बाँकीपुर १९१२
सैयद मुहम्मद	करांची १९१३
बी० एन्० बसु	मद्रास १९१४
लॉर्ड सिनहा	बंबई १९१५
ए० सी० मजूमदार	लखनऊ १९१६
डॉक्टर बीसेंट	कलकत्ता १९१७
एस्० हसनइमाम	बंबई १९१८
मोतीलाल नेहरू	अमृतसर १९१९, कलकत्ता १९२८
विजयराघवाचारी	नागपुर १९२०
लाला लाजपत राय	कलकत्ता १९२० (विशेष अधिवेशन)

हकीम अजमलखान	अहमदाबाद १९२१
देशबंधुदास	गया १९२१
मौलाना मुहम्मदअली	कोकोनाडा १९२३
अबुलकलाम आज़ाद	दिल्ली १९२३, रामगढ़ १९३९-४५
महात्मा गांधी	बैलगाम १९२५
श्रीमती सरोजिनी नायडू	कानपुर १९२४
एस्० श्रीनिवास आयंगर	गौहाटी १९२६
डॉक्टर एम्० ए० अंसारी	मद्रास १९२७
पंडित जवाहरलाल नेहरू	लाहौर १९२९, लखनऊ १९३७, फैज़पुर १९३७ और १९४६
सरदार वल्लभ भाई पटेल	करांची १९३१
सेठ रामछोड़लाल	दिल्ली १९३२
श्रीमती सेन गुप्ता	कलकत्ता १९३३
डॉक्टर राजेंद्रप्रसाद	बंबई १९३४, १९४०
सुभाषचंद्र बोस	हरिपुरा १९३८, त्रिपुरी १९३९
आचार्य कृपलानी	मेरठ १९४६